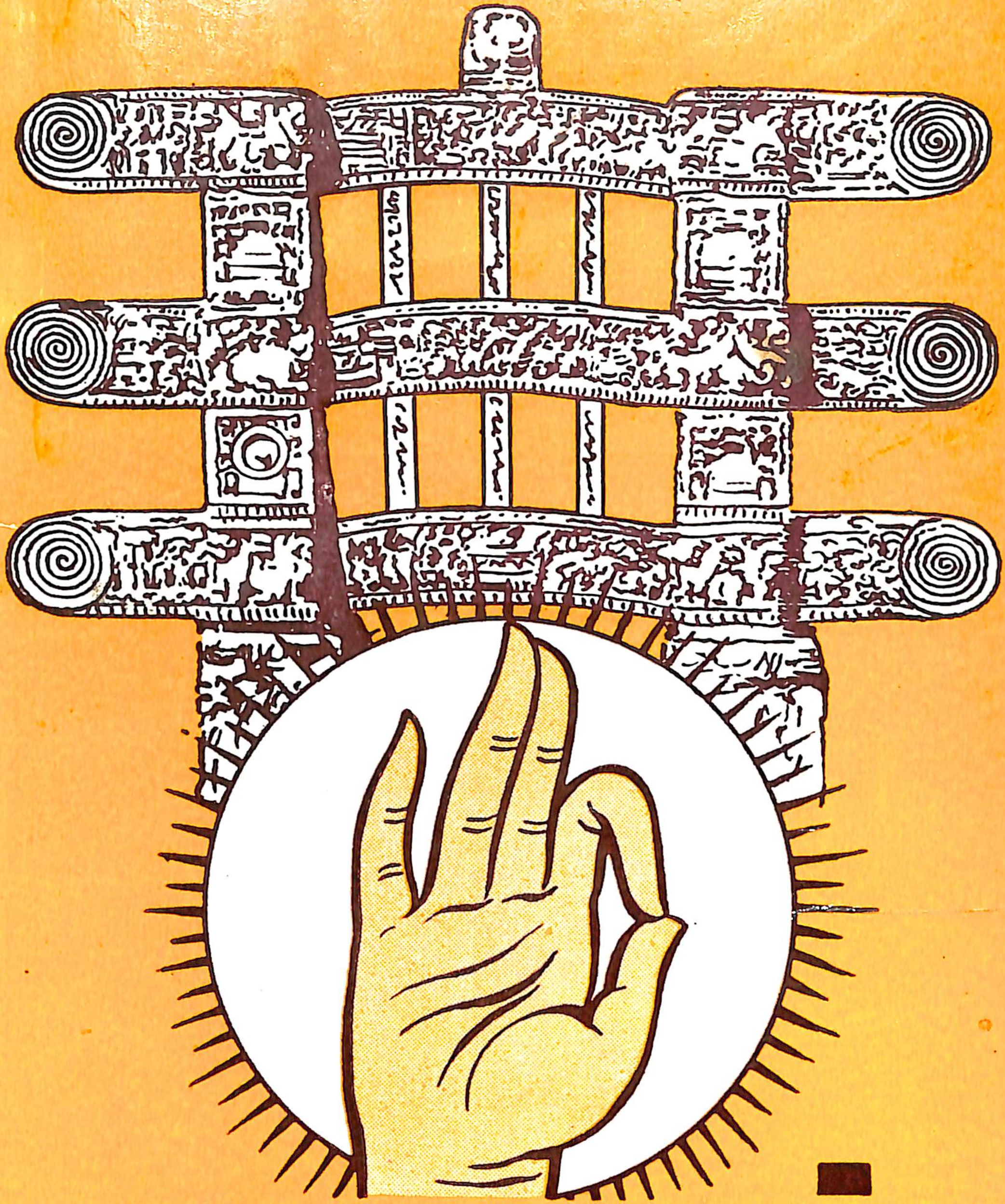


धम्मपदं

(नव-संहिता)

- विनोबा

धम्मपदं

[नव-संहिता]

सम्पादक

विनोबा

अनुवादक

कुन्दर दिवाण

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

धम्मपदं

●

विनोबा

●

अनुवादक
कुन्दर दिवाण

●

संस्करण : छठवाँ
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : १३,०००
मार्च, २००३

●

प्रकाशक :
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१

●

मुद्रक :
मित्तल ऑफसेट
सुन्दरपुर, वाराणसी

●

मूल्य : तीस रुपये

DHAMMA-PADAM

●

Vinoba

●

Price : Rs. 30.00

प्रकाशकीय

भूदान के सिलसिले में विनोबा ने बिहार की सवा दो साल की जो यात्रा की, उसमें उन्होंने 'धम्मपद' का गहरा अध्ययन किया। वे मानते हैं कि उनकी वह यात्रा धम्मपद के प्रकाश में ही चली। उस अध्ययन, मनन और चिन्तन का सुपरिणाम है : धम्मपद की यह नव-संहिता।

इस नव-संहिता की केवल मूल गाथाओं का पहला संस्करण १९५९ में प्रकाशित हुआ था। गाथाओं के अन्त में श्री कुन्दर दिवाण द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण पद-सूची भी थी। इस नव-संहिता का जिस समय निर्माण हो रहा था, उस समय श्री कुन्दरजी भी विनोबा के साथ थे। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद उन्होंने ही किया है। वे विनोबा के विद्यार्थी रहे हैं। उन्होंने बुद्ध-दर्शन का सार इस श्लोक में प्रस्तुत किया है :

तृष्णामूलं इदं दुःखं निर्वाणं परमं सुखम्।
शीलं समाधिः प्रज्ञा च जीवनं, बुद्ध-दर्शनम्॥

शील, समाधि और प्रज्ञा को ही विनोबा ने नव-संहिता में कर्मयोग, साधना और निष्ठा का नाम दिया है। प्रस्तुत अनुवाद के लिए हम श्री कुन्दरजी के उपकृत हैं।

इसकी भूमिका श्री श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट ने लिखी है, जिसमें उन्होंने धर्म-समन्वय की भूमिका से बौद्ध धर्म का हार्द खोलकर रख दिया है। श्री भट्टजी ने बड़े मनोयोग से अनेक अनुवादों की छानबीन करके धम्मपद का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। इसलिए उनकी भूमिका का अपना महत्त्व है। हम उनके आभारी हैं।

हम आशा करते हैं कि धम्मपद की इस नव-संहिता का सर्वत्र स्वागत होगा और इसमें लोगों को भारतीय विचार-परम्परा की ओर देखने की एक अभिनव दृष्टि मिलेगी।

●

प्रास्ताविक

परमार्थ की खोज में गृह-परित्याग करने की बचपन में ही मुझे धुन लगी हुई थी। इसलिए स्वाभाविक ही गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, समर्थ रामदास जैसे महापरिव्राजकों का मुझे एक विशेष आकर्षण था। बड़ौदा में, जहाँ मेरा अध्ययन हुआ, एक बगीचे में भगवान् बुद्ध की करुणामय प्रसन्न मूर्ति रखी हुई थी। उसका कई बार मैं दर्शन करता और कभी-कभी उसका ध्यान भी करता। आखिर ता० २५ मार्च १९१६ के दिन मैं घर छोड़कर निकल ही पड़ा।

आगे के यौवन के ३२ साल सेवामय कर्मयोग, ध्यान-साधना और अध्ययन-अध्यापन में बीते। गांधीजी के प्रयाण के बाद आश्रम छोड़कर अहिंसा-शक्ति की खोज में मुझे निकलना पड़ा। यह मेरे जीवन का दूसरा अभिनिष्क्रमण था, जिसमें से भूदान-गंगा का जन्म हुआ।

भूदान-यात्रा के सिलसिले में मैं लखनऊ पहुँचा था। बुद्ध-जयंती का दिन था। उस दिन सहज ही मेरी वाणी से वाक्य निकल पड़ा कि 'भूदान-यज्ञ के रूप में वही धर्मचक्र-प्रवर्तन का कार्य किया जा रहा है, जिसको गौतम बुद्ध ने चलाया था।' उस वाक्य से उस दिन एक शक्ति-संचार मैंने अपने में महसूस किया। यात्रा आगे चली, हम सारनाथ पहुँचे। वहाँ के बौद्ध भिक्षुओं ने बहुत प्रेमपूर्वक 'धम्म-पद' की पुस्तक मुझे भेंट दी। मानो मेरे दावे पर मुहर लग गयी। फिर पाँच दिन बाद बिहार की यात्रा शुरू हुई। सवा दो साल की वह यात्रा धम्मपद के प्रकाश में चली। बिहार ने ३ लाख दाताओं के द्वारा २२ लाख एकड़ जमीन भूदान-यज्ञ में समर्पित की। बोधगया में समन्वय-आश्रम की स्थापना हुई, जिसके लिए बुद्ध-मंदिर के समीप ही एकमात्र भूमि का टुकड़ा भी अनायास दान में प्राप्त हुआ। आगे आश्रम में कुआँ खोदते हुए बुद्ध की छोटी-सी सुंदर मूर्ति भी

मिली। यह सब उस करुणामय का प्रसाद न कहा जाय, तो क्या कहा जाय ?

× × ×

धम्मपद का मराठी गद्य भाषान्तर बचपन में ही मेरे पढ़ने में आया था। कई वर्षों के बाद मूल पालि ग्रंथ भी देखने को मिला। इसके वास्ते पालि का थोड़ा अध्ययन कर लिया था। उन दिनों मेरा मन गीता और उपनिषद् में रमा हुआ था। पर धम्मपद के कुछ वचनों का चित्त पर इतना असर रहा कि अपने प्रथम लेखन 'उपनिषदों का अध्ययन' की समाप्ति धम्मपद के एक वचन से मैंने की। यह बात है १९२३ की, जब मेरी उम्र २८ साल की थी, और मेरे दिल और दिमाग में वेदान्त-रस भरा हुआ था। इसके २२ वर्षों बाद सन् १९४५ में गीता के स्थितप्रज्ञ-दर्शन पर मैंने व्याख्यान दिये, जिनकी समाप्ति में वेदान्त और बौद्ध-दर्शन के अंतिम ध्येयों की एकरूपता दिखाने की मैंने कोशिश की है।

इधर ज्ञानदेव, कबीर, नानक आदि संतों की सिखावन, उधर उपनिषद् और गीता की सिखावन, दोनों के बीच धम्मपद मुझे एक जोड़नेवाली कड़ी-सा मालूम हुआ। और उस दृष्टि से मैंने धम्मपद का अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया, तो धम्मपद के वचनों का एक व्यवस्थित क्रम मेरे मन में स्थिर हुआ। आज की धम्मपद की रचना कुछ प्रकीर्ण या सुभाषित-संग्रह जैसी है और उसमें उसका समन्वित दर्शन छिप-सा गया है।

बहुत दिनों से मेरा विचार था कि धम्मपद का जो क्रम मेरे मन में बैठ गया है, लोगों के सामने रखूँ। यह एक साहस ही था। लेकिन नम्रतापूर्वक मैंने वह साहस किया है। मैं आशा करता हूँ कि उससे पाठकों को भारतीय विचार-परंपरा की ओर देखने की नयी दृष्टि मिलेगी।

यह धम्मपद की नव-संहिता पढ़कर पाठकों को प्रतीति होगी कि इसमें नये सिरे से समन्वय करने की बात नहीं है, समन्वय पहले से

मौजूद ही है । याने गौतम बुद्ध ने स्वयं ही वह कर रखा है । गौतम बुद्ध के पहले ज्ञानी ब्राह्मणों और तपस्वी श्रमणों की एक परंपरा भारत में चली आ रही थी । उसके बारे में नितांत आदर रखकर गौतम बुद्ध ने अपने विचार पेश किये हैं । "जो समभाव से बरतता है, जो शांत, दमनशील, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने दंड-त्याग करके सब भूतों को अभय दिया है, वह ब्राह्मण है, वह श्रमण है, वह भिक्षु है ।" गौतम बुद्ध का यह उद्गार उनकी नम्र और सारग्राही दृष्टि का पर्याप्त निदर्शक माना जायगा । श्लो० १८-१५ ।

नव-संहिता के साथ उसका अनुवाद* और चिन्तनिका मुझे जोड़नी चाहिए थी । पर उसके लिए कुछ समय लग सकता है । तब तक मैं इसके प्रकाशन को रोकना नहीं चाहता । मुझे विश्वास है कि इसमें जो दृष्टि खुल जाती है, वह सज्जनों को हृदयंगम होगी और 'विश्व-मानुष' के निर्माण में उससे कुछ मदद मिलेगी ।

सौराष्ट्र की भूदान पद-यात्रा
ता० ३-१२-१९५८

विनोबा

---

* यह संस्करण अनुवाद-सहित प्रकाशित हो रहा है ।

भूमिका

यो च गाथासतं भासे अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥ (२।२८)

विवेक की, धर्म की, ज्ञान की एक बात ही भली, अविवेक की सैकड़ों बातें भी नहीं ।

धर्म का एक पद, ज्ञान की एक गाथा, मतलब की एक बात, बेमतलब की सैकड़ों बातों से अच्छी ।

पर यह बात हो कैसी ?

बात ऐसी हो जिससे शांति मिले; जिससे चित्त का क्षोभ दूर हो; जिससे मानस का क्लेश मिटे ।

कितने पते की बात कही है अहिंसा के मूर्तिमंत प्रतीक भगवान् बुद्ध ने !

'धम्मपद' में ऐसी एक-दो ही नहीं, ४२३ गाथाएँ हैं ।

एक-से-एक उत्तम, एक-से-एक बढ़िया, एक-से-एक लाजवाब ।

× × ×

धम्मपद है भगवान् बुद्ध के सुभाषितों का एक मनोरम पुष्पगुच्छ, खुशनुमा गुलदस्ता ।

उसकी अपनी एक शोभा है, उसकी अपनी एक सुगंध है और है एक अद्भुत प्रतिष्ठा ।

भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर जो गाथाएँ प्रस्फुटित होती रहीं, उन्हींका उनके शिष्यों ने आगे चलकर यह सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया ।

इस संग्रह में २६ अध्याय—वग्ग—हैं :

यमक वग्गो, अप्पमाद वग्गो, चित्त वग्गो, पुप्फ वग्गो, बाल वग्गो, पण्डित वग्गो, अर्हन्त वग्गो, सहस्स वग्गो, पाप वग्गो, दंड वग्गो, जरा वग्गो, अत्त वग्गो, लोक वग्गो, बुद्ध वग्गो, सुख वग्गो, पिय वग्गो, कोध वग्गो, मल वग्गो, धम्मट्ठ वग्गो, मग्ग वग्गो, पकिण्णक वग्गो, निरय वग्गो, नाग वग्गो, तण्हा वग्गो, भिक्खु वग्गो और ब्राह्मण वग्गो ।

वग्गों का यह वर्गीकरण मुख्यतः उस-उस विषय को ध्यान में रखकर किया गया है, जिस-जिस शब्द या विषय की गाथा उसमें विशेष रूप से आयी है ।

यमक वग्ग पहला वग्ग है। यमक कहते हैं युग्म को, जोड़े को। दो-दो पद, दो-दो गाथाएँ जहाँ एक-दूसरे से मिलती हैं, उनको इस वग्ग में संकलित कर दिया गया। जैसे—

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति॥ (१।३)

और

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति॥ (१।४)

इसी प्रकार 'अप्पमाद' (अप्रमाद) वाले पद अप्पमाद वग्गो में एकत्र हैं, 'चित्त' शब्दवाले पद चित्त वग्गो में। 'पुप्फ' (पुष्प) शब्दवाले पद पुप्फ वग्गो में हैं, 'बाल' (मूर्ख) पदवाले बाल वग्गो में। अन्य वग्गों का भी ऐसा ही हाल है। बीच में २१वाँ वग्ग है—पकिण्णक (प्रकीर्णक) वग्गो। इसमें प्रकीर्णक पद हैं। भिक्खु वग्गो और ब्राह्मण वग्गो द्वारा इस संकलन की पूर्णाहुति की गयी है।

× × ×

धम्मपद में ये एक-से-एक अनूठे पद रत्नों की भाँति आदि से अन्त तक जगमगा रहे हैं। चाहे जिस रत्न को उठा लीजिये, उसकी आभा से चित्त मुग्ध हो उठता है। अद्भुत और विशिष्ट है यह संकलन।

× × ×

सार-संकलनों का महत्त्व किसीसे छिपा नहीं है :

शास्त्रं ह्यनन्तं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

त्रिपिटक का, बौद्ध धर्म का सार-संकलन धम्मपद में है। इतना ही मनुष्य ग्रहण कर ले तो बहुत।

पर विनोबा तो ठहरे गणिती।

धम्मपद के पदों में गहरे उतरते-उतरते उन्हें लगा कि यह संकलन तो अमूल्य है, पर इस संकलन का कुछ साधन-क्रम भी होना वांछनीय है।

भारतीय साधना पर वैदिक वाङमय की अमिट छाप है। वेद, उपनिषद् और गीता का तत्त्वज्ञान शताब्दियों से भारत को प्रेरणा देता रहा है। भारत के कण-कण में आज भी यह साधना नाना रूपों में यत्र-तत्र पुष्पित-पल्लवित दृष्टिगोचर हो रही है।

विनोबा ने आध्यात्मिक, दार्शनिक और धार्मिक साहित्य का व्यापक अध्ययन किया है। बचपन से ही वे इस रंग में रँगे हैं। धम्मपद का सूक्ष्म और गहन अध्ययन करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे :

'इधर ज्ञानदेव, कबीर और नानक आदि संतों की सिखावन, उधर उपनिषद् और गीता की सिखावन, दोनों के बीच धम्मपद मुझे एक जोड़नेवाली कड़ी-सी मालूम हुआ और उस दृष्टि से मैंने धम्मपद का अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया, तो धम्मपद के वचनों का एक व्यवस्थित क्रम मेरे मन में स्थिर हुआ।

'आज की धम्मपद की रचना कुछ प्रकीर्ण या सुभाषित-संग्रह जैसी है और उसमें उसका समन्वित दर्शन छिप-सा गया है।"

इस शोध और चिन्तन का नवनीत निकला, धम्मपद की यह नव-संहिता।

× × ×

नव-संहिता में विनोबा ने धम्मपद को भारतीय साधना की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया है :

कर्मयोग, साधना और निष्ठा।

कर्मयोग के ६ अध्यायों का सार है :

निर्वैरता सुशीलत्वं सत्-सङ्गत्यां समादरः।
श्रद्धा कर्म-विपाके च नीति-चर्यमनिन्दनम् ॥

यह है साधक का पाथेय, जिसका श्रीगणेश होता है निर्वैरता से। निर्वैरता का अर्थ है—वैर न करना। अवैर से वैर का शमन। निर्वैरी ही सुखी होता है। क्रोध को जीतने का मार्ग है—अक्रोध, क्षमा। अहिंसा ही आर्य का लक्षण है। आत्मौपम्यता ही उसका साधन है। किसीको डराना नहीं, किसीको मारना नहीं, किसीको सताना नहीं। किसीको दुखी करना नहीं। यही है अहिंसा। यही है कर्मयोग की पहली सीढ़ी।

कर्मयोग की दूसरी सीढ़ी है—शील।

साधक को शीलवंत होना ही चाहिए। उसकी सर्वश्रेष्ठ गंध, उसकी खुशबू दिग्दिगंत को सुरभित करती है। शीलवंत के सुख का कहना ही क्या! वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, विगतेच्छ को दान देने में ही धन की भी सार्थकता है, जीवन की भी। दानों में भी सर्वश्रेष्ठ दान है, धर्मदान। सत्य का पालन, मृदु वचनों का उच्चारण और जैसा कहना वैसा करना ही तो शील की साधना है। सत्य के पुजारी की ही वाणी तो सफला होती है : **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** ।*

---

* पातंजल-योगसूत्र, साधनपाद—३६।

कर्मयोग की तीसरी सीढ़ी है——सत्संगति।

'सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ?' कौन अनभिज्ञ है सत्संगति के गुणों से ? **'पारस परस कुधातु सुहाई।'** भगवान् बुद्ध ने भी उस पर बहुत जोर दिया है। यहाँ तक कह दिया है कि अच्छा साथी न मिले तो अकेला ही विचरण करे। सत्पुरुषों का सहवास करे। उनका अभिवादन करे, उनकी पूजा करे। सज्जन तो दूर से ही हिममंडित पर्वत-शिखरों की भाँति चमकते हैं।

कर्मयोग की चौथी सीढ़ी है——कर्मविपाक।

कर्मविपाक पर श्रद्धा भारत की दार्शनिक परम्परा की सुविकसित कड़ी है। भगवान् बुद्ध ने भी उसे स्वीकार किया। पुण्य का संचय और पाप का परिहार वांछनीय है। पुण्य से सद्गति की प्राप्ति होगी और पाप से रोना पड़ेगा। पुण्य मार्ग पर चलने से जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा हो सकेगा।

कर्मयोग की पाँचवीं सीढ़ी है——नीति।

सार को सार समझना, असार को असार; धर्म का आचरण करना, प्रमाद न करना, सतत जाग्रत रहना, सत्कर्मों का पालन करना, क्षमाशील रहना, पसीने की, ईमानदारी की कमाई पर गुजर करना–शुद्धाजीवी होना ही नीति का मार्ग है।

मूढ़ संकल्प, निर्दोषों को दोष देना, हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार, मद्यपान, असंयम आदि निषिद्ध कर्म वर्जनीय हैं। पेटूपन, आलस तथा निंद्यकर्म मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर में डालते हैं। इन सबसे विरत होना वांछनीय है।

कर्मयोग की छठी सीढ़ी है——अनिन्दा।

विनोबा कहते ही हैं कि "हममें कृष्ण-भक्ति का रोग है।" निन्दा में मनुष्य को रस मिलता है। संसार में ऐसा कौन है, जिसकी निन्दा नहीं की जाती ? शील, समाधि और प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ही सबकी प्रशंसा का पात्र बनता है। मनुष्य निंदा को सहे और परायी निंदा न करे——तभी वह साधना के मार्ग पर प्रगति कर सकता है, अन्यथा नहीं। कर्मयोग का तात्पर्य है—हिंसा, क्रोध, द्वेष, पर-पीड़न, परधन, परदारा, असत्य, असंयम, मद्य-मांस आदि निषिद्ध कर्मों को त्यागकर शुद्ध एवं पवित्र जीवन का आधार लेना। निर्वैरता, सुशीलता, सत्संगति, कर्म-विपाक में श्रद्धा, नीति और अनिंदा का पालन मनुष्य को कर्मयोग में आगे बढ़ाता है। उससे मानव का बाह्य जीवन, उसका लौकिक आचरण शुद्ध और निर्मल बनता है।

× × ×

परन्तु बाह्य जीवन ही तो सब-कुछ नहीं है।

आन्तरिक जीवन ही है मूल बात।

उसके लिए आवश्यकता है मन को शुद्ध करने की। मन की वृत्तियों को शुद्ध और पवित्र बनाने के लिए साधना के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा।

साधना की षडध्यायी है :

आत्मनैवात्म-दमनं देहानित्यत्व - दर्शनम्।
जाग्रतता शोधनं चैव प्रज्ञायोगो वितृष्णता॥

धम्मपद में विनोबा ने इन ६ अध्यायों में साधना का यह मार्ग प्रदर्शित किया है—आत्मदमन, देह की अनित्यता, जागरूकता, चित्त-मल आदि का शोधन, प्रज्ञायोग और वितृष्णता।

चंचल मन को वश में करना कठिन तो है, परन्तु साधक को तो मन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी। आत्मविजय के बिना उसका काम चलनेवाला नहीं। चित्त-संयम, चित्त-शोधन की प्रक्रिया में शरीर और जगत् की नश्वरता, सतत जागरूकता, अप्रमाद, ब्रह्मचर्य, मल-शोधन आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मल-शोधन से, आस्रवों के क्षय से मानव परिनिर्वाण की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

वाणी की चौकीदारी करके, मन को संयत रखकर और काया से कोई अकुशल कर्म न करके, इन तीन कर्म-पथों की शुद्धि द्वारा प्रज्ञा-योग में प्रवेश होता है। प्रज्ञा और ध्यान से ही मानव निर्वाण के निकट पहुँचता है।

साधना का मूल आधार है—तृष्णा-क्षय। तृष्णा के प्रवाह जीवों को बड़े मीठे लगते हैं। तृष्णा का बन्धन—मणि, कुंडल, पुत्र और स्त्री का बन्धन ही सबसे कड़ा बन्धन है। तृष्णा-त्यागी ही महाप्राज्ञ है। इस तृष्णा से मुक्त हुए बिना निर्वाण के मार्ग पर बढ़ा ही नहीं जा सकता।

मन पर, चित्त पर विजय प्राप्त करके, उसके निरीक्षण, परीक्षण और संशोधन द्वारा ही साधना फलवती होती है और निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है।

× × ×

अन्तिम षडध्यायी है—निष्ठा-सम्बन्धी।

निष्ठा ही वह मूल आधारशिला है, जिस पर किसी धर्म का प्रासाद खड़ा होता है। विनोबा ने निष्ठा खण्ड का सूत्र दिया है :

वीक्षणं बुद्ध-बौद्धानां सद्-धर्मस्य च लक्षणम्।
पण्डितस्य च भिक्षोश् चाप्यर्हतो ब्राह्मणस्य च॥

कितना भव्य है बुद्ध का साक्षात्कार। कहते हैं वे : 'हे गृहकार, अब तुम दीख गये हो, अब तुम फिर से कारागृह न बना सकोगे। तुम्हारे सभी बाँस टूट गये हैं। संस्काररहित चित्त से तृष्णा का क्षय हो गया है।'

और बुद्धों का शासन ? उनकी शिक्षा ?

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥ (१४।१)

१. सभी पापों का न करना, कायिक, वाचिक, मानसिक पापों से विरत रहना,

२. सभी कुशल कर्मों का करना, और

३. चित्त का शोधन करते रहना—

यही है बुद्धों का शासन।

पापों से निवृत्ति, सत्कर्मों का सेवन और चित्त की शुद्धि—यही है बुद्धों की शिक्षा।

अकुशल कर्म—अर्थात् पापकर्म।

कुशल कर्म—अर्थात् पुण्यकर्म।

ये कर्म १० प्रकार के माने गये हैं :

	अकुशल	**कुशल**
काय-कर्म		
	१. प्राणातिपात—हिंसा	१. अहिंसा
	२. अदत्तादान—चोरी	२. अ-चौर्य, अस्तेय
	३. मिथ्याचार—व्यभिचार	३. ब्रह्मचर्य
वाचिक कर्म		
	१. मृषा वचन—असत्य	१. अमृषा वचन—सत्य
	२. पिशुन वचन—चुगली	२. अपिशुन वचन
	३. परुष वचन—कटुवचन	३. अ-कटु वचन
	४. संप्रलाप—बकवाद	४. अ-संप्रलाप
मानस कर्म		
	१. अभिध्या—लोभ	१. अ-लोभ
	२. व्यापाद—प्रतिहिंसा	२. अ-प्रतिहिंसा
	३. मिथ्यादृष्टि—झूठी धारणा	३. अ-मिथ्यादृष्टि

स्पष्ट है कि कुशल कर्म के सेवन से और अकुशल कर्म के त्याग से जीवन पवित्र बनेगा।

फिर निर्वाण कैसे दूर रह सकता है?

आर्य सत्य, त्रि-शरण और दीक्षा से निष्ठा सांगोपांग बनती है।

ऐसा कर्मयोगी, ऐसा साधक और ऐसा निष्ठावान् ही पण्डित है, भिक्षु है, अर्हत है और ब्राह्मण है।

अलंकतो चे पि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु॥
(१८।१५)

'अलंकृत रहने पर भी जो शम का आचरण करता है, जो शान्त है, दान्त है, नियत है, ब्रह्मचारी है और जिसने प्राणिमात्र के प्रति दण्ड का परित्याग कर दिया है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही भिक्षु है।'

भगवान् बुद्ध चाहते हैं कि मानव इस प्रकार की साधना द्वारा जीवन के चरमलक्ष्य की प्राप्ति करे। संयम, सदाचार और अहिंसा ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। उस पर जो खरा उतरता है, उसीका जीवन सार्थक है।

× × ×

वैदिक विचारधारा से भगवान् बुद्ध ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सदाचार, संयम, त्याग, वैराग्य, कर्म-विपाक आदि की अनमोल शिक्षा ग्रहण कर उसे शील, समाधि और प्रज्ञा की धारा में प्रवाहित किया।

मन, वचन, कर्म से अहिंसा का पालन और सदाचारमय जीवन द्वारा निर्वाण के पथ की ओर अग्रसर होने पर उन्होंने जोर दिया।

करुणा के अवतार भगवान् बुद्ध को यज्ञों का कर्मकाण्ड, पशुवध, त्याग और तपस्या के बाहरी आडम्बर ठीक नहीं लगे। ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेद उन्हें व्यर्थ जान पड़े। दुःखपीड़ित मानव-समाज को दुःख के दुष्ट-चक्र से मुक्त करने के लिए उन्होंने मध्यम मार्ग का आश्रय लिया। चार आर्य सत्यों का, आर्य अष्टांगिक मार्ग का उन्होंने प्रतिपादन किया।

चार आर्य सत्य हैं :

१. **दुःख**—संसार दुःखमय है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, प्रिय का वियोग, अप्रिय का मिलन दुःखप्रद है।
२. **दुःखसमुदय**—तृष्णा ही दुःख का मूल कारण है। ऐहिक उपभोगों की तृष्णा, स्वर्गलोक में जन्म पाने की तृष्णा और यथेच्छ सुखभोग, इस जगत् से मिट जाने की तृष्णा सारे पापों और अनर्थों की जड़ है।

३. **दुःखनिरोध**——तृष्णा का निरोध करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण न तो देह-दण्डन से मिलनेवाला है और न भरपूर कामोपभोग से।

४. **दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा**——तृष्णा के निरोध का साधन है अष्टांगिक मार्ग।

और अष्टांगिक मार्ग में ८ बातें हैं:

सम्यक् दृष्टि – चारों आर्य सत्यों में विश्वास,
सम्यक् संकल्प – अकार्य न करने का संकल्प,
सम्यक् वाचा – असत्य भाषण आदि से दूर रहना,
सम्यक् कर्मान्त (कर्म) – प्राणि-हिंसा और दुराचार आदि से बचना,
सम्यक् आजीव – आजीविका के शुद्ध साधन अपनाना,
सम्यक् व्यायाम – मानसिक दोषों को वश में करना,
सम्यक् स्मृति – जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि का सदैव स्मरण और
सम्यक् समाधि – विवेक, विचार, शांति, एकाग्रता का आश्रय ग्रहण करना।

× × ×

१. सम्यक् दृष्टि : सम्यक् दृष्टि का अर्थ है, यथार्थ ज्ञान। चारों आर्य सत्यों को ठीक ढंग से जान लेना, उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही सम्यक् दृष्टि है। जगत् अनित्य है, सतत परिवर्तनशील है, दुःखमय है। जन्म में भी दुःख है, जरा में भी दुःख है, मरण में भी दुःख है। शोक, परिवेदना, दौर्मनस्य, उदासीनता, उपायास, आयास, हैरानी आदि सब दुःख हैं। अप्रिय से मिलन और प्रिय से वियोग दुःख है। ईप्सित वस्तु का प्राप्त न होना भी दुःख है अर्थात् राग के द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्ध——रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान सभी दुःख हैं। दुःखों का कारण है तृष्णा और दुःख का निरोध या निराकरण है उस तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य।

२. सम्यक् संकल्प : सम्यक् संकल्प का अर्थ है, उचित निर्णय या उचित निश्चय। सम्यक् संकल्प के तीन भेद माने गये हैं: १. नैष्कर्म्य संकल्प——एकान्तवास की रुचि, २. अव्यापाद संकल्प——जगत् के सभी जीवों पर शुद्ध प्रेम और ३. अविहिंसा संकल्प——दूसरों को कोई क्लेश न हो और अपने को भी कोई क्लेश न हो, ऐसा संकल्प। मोटे तौर से कह सकते हैं कि सम्यक् संकल्प है कुशल कर्मों और सद्वृत्तियों के आचरण का पुनीत संकल्प।

३. सम्यक् वाचा : सम्यक् वाचा का अर्थ है, वाणी द्वारा कोई पाप न करना, असत्य न बोलना, चुगली न करना, मुख से कठोर शब्द न निकालना और व्यर्थ की बकवास न करना।

४. सम्यक् कर्मान्त : सम्यक् कर्मान्त का अर्थ है, शारीरिक आचार, शरीर से होनेवाला आचार। हिंसा न करना, चोरी न करना, मिथ्याचार न करना, अकुशल कर्मों का त्याग करना और पंचशील का आचरण करना। पंचशील हैं : १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. मद्य-निषेध। भिक्षुओं के लिए इनके अतिरिक्त पाँच शील और हैं : १. अपराह्ण भोजन करना, २. माला धारण न करना, ३. संगीत न सुनना, ४. स्वर्ण का त्याग और ५. अमूल्य शय्या का त्याग।

५. सम्यक् आजीव : सम्यक् आजीव का अर्थ है, शुद्ध जीविका। भगवान् बुद्ध ने शस्त्रों का व्यापार, प्राणियों का व्यापार, मदिरा आदि का व्यापार, मांस का व्यापार और विष का व्यापार निषिद्ध बतलाया है। बनजारी का, कसाई का, कलाल का, जहर बेचने का, गुलामों का धन्धा अनुचित माना है। इसी प्रकार बाँट और तराजू, नाप की ठगी, रिश्वतखोरी, धोखेबाजी, कुटिलता, हत्या, लूट-मार आदि अकुशल कर्मों को न करने का आदेश दिया है। भिक्षुओं के लिए सैनिक आदि का कार्य भी निषिद्ध है। तात्पर्य यह है कि जीविका के लिए, ऐसा कोई भी आचरण न किया जाय, जिससे किसीको दुःख हो और जिसके लिए कोई अकुशल कर्म करना पड़े।

६. सम्यक् व्यायाम : सम्यक् व्यायाम का अर्थ है, उचित उद्योग करना। अशोभन उद्योग को रोकना और शोभन उद्योग को करना। १. मन में जो कुविचार न आये हों, उन्हें न आने देना, २. जो कुविचार मन में आये हों, उनको नाश करने का प्रयत्न करना, ३. जो सुविचार मन में न आये हों, उनको लाने का प्रयत्न करना और ४. जो सुविचार मन में आये हों, उनका विकास करना और उन्हें पूर्णता तक पहुँचाना।

७. सम्यक् स्मृति : सम्यक् स्मृति का अर्थ है, काया अपवित्र पदार्थों से बनी है, यह विवेक सतत जाग्रत रखना। शरीर के सुख-दुःख आदि का बार-बार चिन्तन करना। अपने चित्त का सतत अवलोकन करना और कार्य-कारण के तात्त्विक विचारों का चिन्तन करते रहना। कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना—इन चार प्रकार की भावनाओं को सतत जाग्रत रखना ही सम्यक् स्मृति है।

८. **सम्यक् समाधि :** सम्यक् समाधि का अर्थ है, शील के आचरण से शरीर को शुद्धि प्राप्त होती है और उससे प्राप्त होती है समाधि। इसके लिए चार ध्यान बताये गये हैं। पहले ध्यान में योगी सभी काम-वासनाओं का निरोध करके वितर्क और विचार से युक्त तथा विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख से सम्पन्न होता है। दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार शान्त हो जाने से चित्त में प्रसन्नता और एकाग्रता आती है, साथ ही विचाररहित समाधि से उत्पन्न प्रीति और सुख भी होते हैं। तीसरे ध्यान में योगी प्रीति का परिहार कर केवल उपेक्षा, स्मृति और सुख का अनुभव करता है। चौथे ध्यान में योगी सुख का भी परिहार कर केवल उपेक्षा और स्मृति का अनुभव करता है।

सफल समाधि से चित्त की शुद्धि होती है और काया तथा चित्त दोनों के शुद्ध हो जाने पर प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है।

× × ×

बौद्ध धर्म की आधारशिला है—**मध्यम मार्ग**। इसका अर्थ है, जीवन के किसी भी व्यवहार में अति से बचना। न त्याग-तपस्या में ही अति करना और न भोग-विलास में ही। वीणा के तारों को इतना न कसो कि तार ही टूट जायँ और न इतना ढीला रखो कि स्वर ही न निकलें। **'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'** इसका साधन है अष्टाङ्गिक मार्ग। 'आर्य सत्य और अष्टांगिक मार्ग पर चलकर निर्वाण की उपलब्धि होती है।'—ऐसा भगवान् बुद्ध ने कहा है। उन्होंने योगयुक्त जीवन पर, कर्म पर और साधना पर ही सबसे अधिक जोर दिया। जीव, जगत्, ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म आदि के विषय में वे मौन रह गये। उनका **'निर्वाण'** वैदिकों के 'ब्रह्म-निर्वाण' का ही एक रूप है।

विनोबा ने 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' में उसका विवेचन करते हुए कहा है :

"बौद्धों ने निषेधक शब्द पसंद किया है। मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय, वह शून्य हो जाय, इसीलिए बौद्धों ने अकेला **'निर्वाण'** शब्द ही लिया है। किन्तु वैदिकों ने **'ब्रह्म-निर्वाण'** इस विधायक शब्द को पसंद किया। वैदिकों को विधायक भाषा अच्छी लगी। क्यों लगी, यह देखें तो दोनों पक्षों की भाषा की मधुरता और मर्यादा ध्यान में आ जायगी। भाषा का पूर्ण रूप से निर्दोष होना संभव नहीं है। भाषा का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि वह एक तरफ से अर्थ समझाता है, तो दूसरी तरफ गलतफहमी पैदा करता है। अतः विधायक और निषेधक, दोनों तरह की भाषा का भाव समझकर जो रुचे, उसे स्वीकार करो।

वैदिकों को लगा कि मोक्ष को अभावरूप कहने की अपेक्षा भावरूप कहना

उचित है। वैदिकों को लगा कि हम 'नष्ट हो गये', 'शून्य हो गये' कहने की अपेक्षा हम 'व्यापक हो गये', 'ब्रह्म हो गये' कहना अधिक अच्छा है।

इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं : 'मिट गये' कहने से घबराते क्यों हो ? जरा हिम्मत करो। शून्य बनो। 'मिट जाने' का डर छोड़ो। 'मैं अनन्त होऊँगा', 'व्यापक होऊँगा', 'सर्वमय होऊँगा', इसमें अस्तित्व का जो मोह है, उसे छोड़ दो।

इस पर वैदिक कहते हैं : यहाँ डर और मोह का प्रश्न नहीं है। अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करें ? अब तक नाना प्रकार की साधना करके सब कुछ छोड़ा और आत्मनिष्ठ बने। जन्म-मृत्यु को पीछे छोड़कर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। धर्म से अधर्म का नाश किया, फलत्याग से धर्म को आत्मसात् किया, ईश्वरार्पण के द्वारा फलत्याग को उड़ाया, अन्त में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया, अब वह मैं ही मिटनेवाला हूँ, यह कैसे मानूँ ? सब वस्तुओं का निराकरण करने पर शेष बचनेवाला जो मैं हूँ, वही व्यापक हो गया है, ब्रह्ममय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है।

लेकिन मोक्ष को भावरूप कहने पर भी उसमें कुछ नवीन जोड़ना है, यह आशय वैदिकों का भी नहीं है। इसके विपरीत बौद्ध भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते हैं ऐसा ख्याल करना भी, मेरी समझ से, उनके आशय को गलत समझना है। ऐसी गलतफहमी बहुतों को हुई है और बड़े-बड़ों को हुई है। फिर भी वह है तो गलतफहमी ही। बौद्धों को 'मैं' की भाषा नहीं चाहिए, चाहे और कुछ भी क्यों न हो ! इसलिए यह भाषाभेद मुख्यतः रुचिभेद के कारण हुआ है, यही समझना चाहिए। इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे तो खास कोई भेद दिखाई नहीं देता। अच्छा ही है कि बौद्धों को 'मैं' से अरुचि है। अनेक हीन अनुभवों के कीचड़ में लथपथ 'मैं' की जरूरत ही क्या ? सच पूछें तो **'ब्रह्म-निर्वाण'** शब्द में उसे कहाँ जगह दी गयी है ? सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नहीं है। वह निषेधक अर्थ को गर्भ में लिये हुए विधायक है। दोनों अर्थों के संग्राहक के रूप में ही गीता ने उसकी तजवीज की है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने पर 'मैं' चला गया, ब्रह्म बाकी बचा। इसमें डरने की कोई बात ही नहीं। जहाँ शब्द ही समाप्त हो जाते हैं, वहाँ शब्दों के लिए झगड़ा ही क्यों ? गीता की भाषा में मैं तो कहूँगा—**'एकं ब्रह्म च शून्यं च यः पश्यति स पश्यति।'** जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है, वही देखता है। इसलिए 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द के द्वारा सारा वाद ही मिटा दिया है।"

× × ×

भगवान् बुद्ध का **'मध्यम मार्ग'** और भगवान् महावीर की **'मध्यम दृष्टि'** भारतीय धार्मिक विचारधारा की अनमोल कड़ियाँ हैं। बौद्ध धर्म तो केवल भारत में ही नहीं फैला, उसने बर्मा, सुदूरपूर्व, चीन, जापान, सिंहल तथा विश्व के अन्य अंचलों में भी अपना विकास किया, परन्तु जैन-धर्म विधि-निषेधों से जकड़ा होने के कारण भारत के बाहर न जा सका। पर दोनों धर्मों की सुरभि तो दो-ढाई हजार वर्ष बाद भी उसी प्रकार दिग्दिगन्त को व्याप्त कर रही है।

× × ×

बुद्ध भगवान् की विचारधारा ने ज्ञानदेव, नामदेव, कबीर, नानक आदि मध्यकालीन साधु-संतों पर भी अपनी कम छाप नहीं डाली। यह बात दूसरी है कि इन संतों की अपनी-अपनी परम्परा है, परन्तु तीन-चार बातों में उन पर बौद्ध-विचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव है ही। जैसे :

१. धार्मिक रूढ़ियों, आडम्बरों आदि का विरोध,
२. जीवन और जगत् की नश्वरता,
३. सदाचारमय संयमपूर्ण जीवन पर जोर और
४. तृष्णा के उन्मूलन पर जोर।

× × ×

भगवान् बुद्ध ने कहा है :

न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

'न जन्म के कारण, न गोत्र के कारण, न जटाधारण के कारण ही कोई ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य है, जिसमें धर्म है, वही पवित्र है और वही ब्राह्मण है।'

सत्य और धर्म का पालन करनेवाला ही ब्राह्मण है। ब्राह्मण न जन्म से होता है, न गोत्र से होता है, न जटा से। जो भी व्यक्ति संयम और सदाचार का पालन करता है, वह ब्राह्मण है, पूज्य है, वरेण्य है।

कबीर कहते हैं :

न्हाये धोये क्या भया, जो मन का मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहे, धोये बास न जाय॥
वैष्णव भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छप्पा-तिलक बनाय कर, दग्ध्या लोक अनेक॥

मूल बात है व्यर्थ की धार्मिक रूढ़ियों, आडम्बरों आदि का विरोध और चित्त-शुद्धि पर सबसे अधिक जोर देना।

मध्यकालीन सन्तों पर इन वातों का वहुत प्रभाव पड़ा है। फिर वे चाहे कबीर हों, चाहे नानक; जायसी हों चाहे पलटू। पलटू साहव कहते हैं :

ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच।
ना काहू से रोच दोऊ को एक रस जाना॥
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना।
जो कंचन सो काँच दोऊ की आसा त्यागी॥
हारि जीत कहु नहि प्रीति इक हरि से लागी।
दुःख सुख सम्पत्ति विपति भावना यहु से दूजा॥
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सबकी पूजा।
ना जिनने की खुशी है पलटू मुए न सोच॥
ना काहू से दुष्टता ना काहू सो रोच।

× × ×

ज्ञानदेव कहते हैं :

उपजोनि संसारीं, आपुला आपण वैरी
'मी' 'माझें' शरीरीं, घेउनि ठेलें
देहातें म्हणे 'मी', पुत्र दारा धन 'माझें'
काळाचें हें खाजें, ऐसें नेणतु गेला
काम-क्रोध-मत्सराचेनि गुणें
बांधिला आपण नेणें, भ्रमितु जैसा
मिथ्या मोह-फांसा, शुक नलिके जैसा
मुक्त परी आपैसा, पळों नेणे
जल-चर आमिष गिळी, लागलासे गळीं
आपणपें तळमळी, सुटिका नाहीं
तैसें आरंभीं विषय-सुख, गोड वाटे इंद्रियां
फळ-पाकीं पापिया, दुःख भोगी

–इस संसार में पैदा होकर हम खुद अपने वैरी बन गये।
–(क्योंकि हम) इसी शरीर को लेकर हम 'मैं' और 'मेरा' पकड़ वैठे हैं।
–इस देह को कहता है, मैं और पुत्र, दारा, धन मेरे हैं।
–यह काल का खाद्य है, इसे जान नहीं पाया।
–काम, क्रोध और मत्सर के कारण हम अज्ञान से बँध गये और किसी भ्रान्त-से बन गये।

–यह मोहपाश शुक-नलिका-सा मिथ्या है। फिर भी हम अपनी ओर से मुक्ति की ओर नहीं भागते।

–जलचर प्रलोभनस्वरूप मांस निगलता है तो वह उसके गले ही लग जाता है। इससे स्वयं तड़फड़ाने लगता है, जहाँ से वह छूट नहीं पाता। इसी तरह इंद्रियों को विषयों का सुख आरंभ में मीठा लगता है, लेकिन परिणाम में पाप और दुःख भोग का ही जनक बनता है।

× × ×

चोरांचेनि संगें क्रमितां पैं पंथ।
ठकूनियां घात करितील ॥
काम क्रोध लोभ घेऊनियां संगे।
परमार्थासि रिघे तो चि मूर्ख ॥
बांधोनियां शिळा पोहूं जातां सिंधु।
पावे मति-मंदु मृत्यु शीघ्र ॥
देह गेह भ्रांती सोडूनियां द्यावें।
साधन करावें शुद्ध मार्गें ॥
ज्ञानदेवो म्हणे तरी चि साधेल।
नाहीं तरी चळेल मध्य भागीं ॥

–चोर के साथ संगति करते हुए जो कदम उठाये जायेंगे, निश्चय ही वे अपना घात कर लेते हैं।

–काम, क्रोध, लोभ के साथ लेकर जो परमार्थ-पथ में प्रवेश करता है, वह मूर्ख है।

–जो कमर में शिला बाँधकर समुद्र पार करने जायगा, वह मतिमंद निश्चय ही शीघ्र मृत्यु का शिकार हो जाता है।

–इसलिए देहगत भ्रान्ति मिटा देनी चाहिए और फिर शुद्ध मार्ग से साधन करें।

–ज्ञानदेव कहते हैं कि ऐसा करेंगे तभी वह सध पायेगा, अन्यथा बीच रास्ते में ही डूब जायगा।

नामदेव कहते हैं :

हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमाणु मसीति।
नामे सोई सेविआ जँह देहुरा न मसीति ॥

कबीर कहते हैं :

हाड़ जले ज्यूं लाकड़ी केस जलें ज्यूं घास ।
सब तन जलता देखि करि भया कबीर उदास ।।

× × ×

तनधरि सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया हो ।
राजा परजा रंक धनी नर, अधमाधम औ मुखिया हो ।।
घाटि बाढ़ि है सब जग दुखिया, क्या गिरही क्या त्यागी हो ।
सुखिया या जग नहीं कुटुम्बी, सुखिया नहीं बैरागी हो ।।
जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तपसी को दुःख दूना हो ।
आशा तृष्णा सब घट व्यापे, कोई महल नहीं सूना हो ।।
सांच कहूँ तो कोई न माने, झूठ कहा नहीं जावे हो ।
अवधू दुखिया भूपति दुखिया, रंक दुखी विपरीते हो ।
कहे 'कबीर' सुनो भाई साधो, मनुष सुखी मन जीते हो ।।

× × ×

मन न रंगाये रंगाये जोगी कपरा ।
आसन मारि मंदिर में बैठे, नाम छाड़ि पूजन लागे पथरा ।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलें, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैलें बकरा ।।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौलें, काम जराय जोगी बनि गैलें हिजरा ।।
मथवा मुड़ाय जोगी कपड़ा रंगौलें, गीता बांचिके होई गैलें लबरा ।।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, जम दरवजवा बांधल जैबे पकरा ।।

× × ×

घर तजि बन खंडि जाइये खनि खइये कंदा ।
विषै विकार न छूटई ऐसा मन गंदा ।
विष विषिया की वासना तजो तजी नहीं जाई ।
अनेक जतन करि सुरझे, पुनि पुनि उरझाई ।।

× × ×

गुरु नानक कहते हैं :

जोगु न खिथा जोगु न डंडै जोगु न भसम चड़ाईऐ ।
जोगु न मुंदी मूंडि मुड़ाइऐ जोग न सिङी वाईऐ ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ ।

गली जोगु न होई ।
एक दृसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीऐ सोई ।।
जोगु न बाहरि मड़ी मसाणी जोगु न ताड़ी लाईऐ ।
जोगु न देसि दिसंतरि भविऐ जोगु न तीरथि नाईऐ ।।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ ।।

स्पष्ट है कि धम्मपद इधर ज्ञानदेव, कबीर, नानक आदि संतों की सिखावन, उधर उपनिषद् और गीता की सिखावन को जोड़नेवाली कड़ी है। जिस नैतिक और पवित्र आचरण पर भगवान् बुद्ध ने जोर दिया, अति की चरम सीमाओं से बचकर मध्यम मार्ग का जो प्रशस्त पथ आलोकित किया, तृष्णा का उन्मूलन कर क्षमा, प्रेम, करुणा जैसे पावन गुणों को जिस प्रकार जीवन का पाथेय बनाकर आगे बढ़ने का उपदेश दिया, उसमें मानव का परम कल्याण निहित है। धम्मपद की नव-संहिता में प्रदर्शित उसका उज्ज्वल दर्शन हमारा पथ आलोकित करे !

भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण, श्रमण और प्रव्रजित सबके लिए मार्ग बता दिया है :

बाहितपापो ति ब्राह्मणो समचरिया समणो ति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितो ति वुच्चति ।। (१७।१२)

- जिसने पाप को बहा दिया, वह है ब्राह्मण ।
- जिसने समता का आचरण ग्रहण कर लिया, वह है श्रमण ।
- जिसने चित्त के मैल को हटा दिया, वह है प्रव्रजित ।

जिसे जो जँचे, उस मार्ग को वह ग्रहण कर ले। सभी मार्ग उसे निर्वाण की ओर ले जायेंगे। कारण,

रस्ते जुदे-जुदे हैं, मक़सूद एक है !

काशी
चैत्र पूर्णिमा, सं० २०२९
२९-३-'७२
29-3-72

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

अध्याय-अनुक्रमणिका

१. कर्म-योगः

२. साधना

३. निष्ठा

खण्ड-अनुक्रमणी

धम्मपदं

[नव-संहिता]

कर्म-योगः

१ निर्वैरता सुशीलत्वं
सत्-सङ्गत्यां समादरः ।
श्रद्धा कर्म-विपाके च
नीति-चर्यमनिन्दनम् ॥

।। नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स ।।

१ : निर्वैरता

१ अ-वैरं वैर-शमनम्

१ मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ।

२ मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा
ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपायिनी ।

३ अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे
ये तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ।

४ अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ।

५ न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।

६ परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ।

।। नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स ।।

१ : निर्वैरता

१. अ-वैरं वैर-शमनम्

१. धर्ममात्र मनःपुरःसर मनःप्रधान, (किंबहुना) मनोमय होता है। यदि कोई प्रदुष्ट मन से बोलता या करता है, तो दुःख उसका ठीक वैसे ही अनुसरण करता है, जैसे गाड़ी का पहिया खींचनेवाले (बैल) के पैर का ।

२. धर्ममात्र मनःपुरःसर मनःप्रधान, (किंबहुना) मनोमय होता है। यदि कोई प्रसन्न मन से बोलता या करता है, तो सुख उसका ठीक वैसे ही अनुसरण करता है, जैसे सदा साथ रहनेवाली (अपनी) छाया ।

३. 'मुझे डाँटा, मुझे मारा, मुझे जीता, मुझे लूटा' इस तरह की गाँठ जो अपने मन में बाँध रखते हैं, उनका वैर (कभी) शान्त नहीं होता ।

४. 'मुझे डाँटा, मुझे मारा, मुझे जीता, मुझे लूटा' इस तरह की गाँठ जो अपने मन में बाँध नहीं रखते, उन्हींका वैर शान्त होता है ।

५. इस संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता। अवैर से ही वैर शान्त होता है । यही सनातन धर्म है ।

६. हम सभीको एक दिन यहाँ से जाना हैं, इस तथ्य को सामान्य लोग नहीं जानते । जो इस तथ्य को जानते हैं, उनके सारे कलह (विकार) शान्त हो जाते हैं ।

२ निर्वैरः सुखी भवेत्

७ सुसुखं वत जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो।

८ सुसुखं वत जीवाम आतुरेसु अनातुरा
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा।

९ सुसुखं वत जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका।

१० सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा।

११ जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं।

१२ परदुक्खूपधानेन अत्तनो सुखमिच्छति
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुच्चति।

२. निर्वैरः सुखी भवेत्

७. वैरियों के बीच अवैरी बनकर हम कितना सुखपूर्ण जीवन बिता रहे हैं ! वैरी मनुष्यों के बीच अवैरी होकर हम विहार कर रहे हैं !

८. आतुरों के बीच अनातुर बनकर हम कितना सुखपूर्ण जीवन बिता रहे हैं । आतुर मनुष्यों के बीच अनातुर होकर हम विहार कर रहे हैं ।

९. उत्सुकों के बीच अनुत्सुक बनकर हम कितना सुखपूर्ण जीवन बिता रहे हैं ! उत्सुक मनुष्यों के बीच अनुत्सुक होकर हम विहार कर रहे हैं ।

१०. जिन (हम अकिंचन लोगों) के पास कुछ भी (परिग्रह) नहीं, अहो वे (हम) कैसा सुख से जीवन बिता रहे हैं । जिस तरह आभास्वर* देव प्रीति का ही भोजन करते हैं, वैसे ही हम भी प्रीति-पुष्ट होंगे ।

११. विजय वैर को जन्म देती है । पराजित दुःख की नींद सोता है । (परंतु) उपशान्त (जिसके राग आदि दोष शांत हैं) पुरुष जय-पराजय दोनों को छोड़कर सुख की नींद सोता है ।

१२. दूसरों को दुःख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वह एक वैर से दूसरे वैर को प्राप्त होता हुआ अनन्त वैर-चक्र में फँसा पुरुष कभी वैर से मुक्त नहीं होता ।

---

* स्वर्ग में देवों का एक वर्ग, जो अत्यंत प्रीति का प्रतीक माना जाता है ।

१३ नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो कलि
नत्थि खन्धादिसा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं।

३ अ-क्रोधेन जयेत् क्रोधम्

१४ कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं अकिंचनं नानुपतन्ति दुक्खा।

१५ यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं व धारये
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो।

१६ अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलीकवादिनं।

१७ सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जाप्पस्मिं पि याचितो
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके।

१८ अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे।

१३. राग (आसक्ति) के समान अग्नि नहीं। द्वेष के समान मल नहीं। स्कंधों* के समान दुःख नहीं। शान्ति से बढ़कर सुख नहीं।

३. अ-क्रोधेन जयेत् क्रोधम्

१४. क्रोध को छोड़े। अभिमान को त्याग दे। (किंबहुना) संयोजन (बन्धन) मात्र को पार कर जाय। इस तरह जो नामरूप (विषयों) में आसक्त नहीं रहता, उस अकिंचन (निर्वसन निष्परिग्रही) पुरुष को दुःख संतप्त नहीं करते।

१५. जो चढ़े हुए क्रोध के आवेग को भ्रान्त रथ के वेग की भाँति रोक लेता है, उसे मैं सारथी कहता हूँ। और तो केवल लगाम पकड़नेवाले हैं।

१६. अक्रोध से क्रोध को जीते। साधुता (भलाई) से असाधु को जीते। दान से कृपण को जीते। सत्य से झूठ को जीते।

१७. (सदा) सच बोले। कभी क्रोध न करे। और माँगने पर थोड़ा ही क्यों न हो कुछ अवश्य दे दे। इन तीन बातों से (अर्थात् सत्य, संयम, दान से) मनुष्य देवताओं के पास पहुँचता है।

१८. जो मुनिजन अहिंसक हैं, शरीर से जो सदा संयत रहते हैं, वे उस अच्युत पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ शोक नहीं करना होता।

---

* रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये पाँच स्कंध हैं।

४ अहिंसैव आर्य-लक्षणम्

१९ न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति।

५ आत्मौपम्यम्

२० सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।

२१ सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।

२२ सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं।

२३ सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं।

२४ मा 'वोच फरुसं कंचि वुत्ता पटिवदेय्यु तं
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं।

२५ स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा
एस पत्तो 'सि निब्बानं सारम्भो ते न विज्जति।

४. अहिंसैव आर्य-लक्षणम्

१९. प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता। आर्य तो प्राणिमात्र की अहिंसा से ही कहा जाता है।

५. आत्मौपम्यम्

२०. दण्ड से सभी डरते हैं। मृत्यु से सभी भय खाते हैं। अतः अपने समान ही सबका सुख-दुःख जानकर न तो स्वयं ही किसीको मारें और न अन्य किसीको मारने के लिए प्रेरित करें।

२१. दण्ड से सभी डरते हैं। सबको अपना जीवन प्रिय है। अतः अपने समान ही सबका सुख-दुःख जानकर न तो स्वयं ही किसीको मारें और न अन्य किसीको मारने के लिए प्रेरित करें।

२२. सब जीव अपने लिए सुख की कामना करते हैं। दण्ड देकर उनकी जो हिंसा करता है, वह (केवल) अपने ही सुख की कामना करनेवाला मरकर परलोक में सुख नहीं पाता।

२३. सब जीव अपने लिए सुख की कामना करते हैं। इसलिए जो दण्ड देकर उनकी हिंसा नहीं करता, वही अपने सुख की कामना करनेवाला परलोक में पहुँचकर सुख पाता है।

२४. कठोर न बोलो। बदले में वे भी कठोर बोलेंगे। क्रोधवचन (सारम्भकथा) दुःखदायी है। तुम्हें प्रतिदण्ड मिलेगा।

२५. टूटे हुए काँसे का थाल पीटने पर भी आवाज नहीं ... है। वैसे ही यदि तुमने अपने को निःशब्द (प्रतिक्रि... बना लिया तो ऐसा समझो कि तुम निर्वाण प... तुम्हारे लिए प्रतिक्रिया जाती रही।

२ : शीलम्

६ श्रेयो-जीवनम्

१ यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो।

२ यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो।

३ यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दळ्हं।

४ यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयव्ययं
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयव्ययं।

५ यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं।

६ यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं।

२ : शील

६. श्रेयो-जीवनम्

१. दु:शील और ध्यानरहित (असमाहित) होकर सौ साल जीने की अपेक्षा शीलवान् और समाधिमान् होकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।

२. दुष्प्रज्ञ और ध्यानरहित (असमाहित) होकर सौ साल जीने की अपेक्षा प्रज्ञावान् और समाधिमान् होकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।

३. आलसी और अनुद्यमी होकर सौ साल जीने की अपेक्षा दृढ़ उद्यमशील होकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।

४. बिना (पदार्थमात्र के) उदय और अस्त का साक्षात्कार किये ही सौ साल जीने की अपेक्षा उनके उदय और अस्त का सम्यक् आलोचन कर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।

५. बिना अमृत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार किये सौ साल जीने की अपेक्षा अमृत पद का दर्शन कर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।

६. बिना उत्तम धर्म का साक्षात्कार किये सौ साल जीने की अपेक्षा उत्तम धर्म का दर्शन कर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ है।

७ शील-गन्ध:

७ न पुप्फगन्धो पटिवातमेति न चन्दनं तगरं मल्लिका वा
सतं च गन्धो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति।

८ चन्दनं तगरं वा पि उप्पलं अथ वस्सिकी
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो।

९ अप्प-मत्तो अयं गन्धो या'यं तगरचन्दनी
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो।

१० तेसं संपन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति।

८ शीलं सुखम्

११ जिघच्छापरमा रोगा सङ्खारा परमा दुखा
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं।

१२ आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठिपरमं धनं
विस्सासपरमा ञाति निब्बानं परमं सुखं।

७. शील-गन्ध

७. फूलों की सुगंध वायु की विपरीत दिशा में नहीं जा सकती। न चन्दन की सुगंध, न तगर, चमेली, बेला की सुगंध ही जा सकती है। परन्तु सज्जनों की सुगंध विपरीत दिशा में भी फैलती है। अर्थात् सत्पुरुष (के पुण्याचरण) की सुगंध सभी दिशाओं में फैलती रहती है।

८. चन्दन या तगर, कमल या जूही इन सभी की सुगंध से शील की सुगंध उत्तम होती है।

९. तगर या चन्दन की सुगंध की मात्रा थोड़ी ही होती है। (वह हमारी नाक तक पहुँचती है।) परन्तु शीलवान् पुरुष की सुगंध बहुत ऊँची (उत्तम) होती है। वह [नाक (स्वर्ग) तक] देवों में बहती है।

१०. ऐसे जो शील-सम्पन्न, समाधि में सदा अप्रमत्त विहार करने-वाले और प्रज्ञा के कारण (अविद्या से) पूर्ण मुक्त होते हैं, उनके आड़े मार (शैतान) कभी नहीं आता।

८. पापानां अकरणं सुखम्

११. बुभुक्षा (भूख) ही सबसे बड़ा रोग है। संस्कार ही सबसे बड़ा दुःख है। यह जो ठीक से जानता है, वही जानता है कि निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।

१२. आरोग्य (स्वास्थ्य) ही सबसे बड़ा लाभ है। संतोष ही सबसे बड़ा धन है। विश्वास ही सबसे बड़ा बन्धु है। तथा निर्वाण ही सबसे बड़ा सुख है।

१३ अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं ।

१४ सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तेय्यता सुखा
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ।

१५ सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ।

१६ मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं
चजे मत्तासुखं धीरो संपस्सं विपुलं सुखं ।

९ दान-विधानम्

१७ तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ।

१८ तिणदोसानि खेत्तानि दोसदोसा अयं पजा
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलं ।

१३. काम पड़ने पर सहायकों का होना सुख है। जो मिले उसीसे संतोष करना सुख है। जीवन के क्षय अर्थात् मृत्यु के समय पुण्य ही सुख है। सभी दुःखों का विनाश (निर्वाण) ही सुख है।

१४. संसार में मातृसेवा-परायणता सुख है तथा पितृसेवा-परायणता सुख है। श्रमणसेवा-परायणता सुख है तथा ब्राह्मणसेवा-परायणता सुख है।

१५. वृद्धावस्था तक शील का पालन सुख है। श्रद्धा का स्थिर होना सुख है। प्रज्ञा को प्राप्त होना सुख है। (संक्षेप में) पापों का न करना ही सुख है।

१६. मित सुख के परित्याग से यदि अमित सुख का लाभ होता दिखायी दे तो धीर पुरुष को चाहिए कि वह मित सुख को त्याग दे।

९. दान-विधानम्

१७. खेतों का दोष है तृण। इस प्रजा (मनुष्य-समाज) का दोष है राग। इसलिए वीतराग (रागरहित) पुरुषों को दिया हुआ दान महान् फलदायी होता है।

१८. खेतों का दोष है तृण। इस प्रजा का दोष है द्वेष। इसलिए वीतद्वेष (द्वेषरहित) पुरुषों को दिया हुआ दान महान् फलदायी होता है।

१९ तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ।

२० तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसा अयं पजा
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं ।

२१ न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं
धीरो च दानं अनुमोदमानो तेनेव सो होति सुखी परत्थ ।

१० अेको धर्मः सत्यम्

२२ एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ।

२३ सब्बदानं धम्मदानं जिनाति सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति
सब्बं रतिं धम्मरती जिनाति तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ।

१९. खेतों का दोष है तृण। इस प्रजा का दोष है मोह। इसलिए वीतमोह (मोहरहित) पुरुषों को दिया हुआ दान महान् फलदायी होता है।

२०. खेतों का दोष है तृण। इस प्रजा का दोष है इच्छा। इसलिए विगतेच्छ (इच्छारहित) पुरुषों को दिया हुआ दान महान् फलदायी होता है।

२१. कंजूस कभी देवलोक (स्वर्ग) को नहीं जात। मूर्ख कभी दान की प्रशंसा नहीं करते। धीर पुरुष ही दान का अनुमोदन करता है और उसके कारण वही परलोक में सुखी होता है।

१०. अेको धर्मः सत्यम्

२२. एकमात्र अर्थात् प्रथम धर्म जो सत्य है, उसीका उल्लंघन करके जो असत्य भाषण करता है और इस तरह जिसने अपना परलोक अर्थात् स्वर्ग भी नष्ट कर डाला है, उसके लिए कोई पाप ऐसा नहीं रहा जो वह न कर सकता हो।

२३. धर्म का दान सब दानों से बढ़कर है। धम का रस सब रसों से बढ़कर है। धर्म की रति सब रतियों से बढ़कर है। तृष्णा का क्षय अर्थात् निर्वाण सब दुःखों को जीत लेता है। (अर्थात् किसी दुःख की छाया तक निर्वाण को नहीं छू सकती।)

११ धर्मपदं संचिनुयात्

२४ को इमं पठविं विचेस्सति यमलोकं च इमं सदेवकं
को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ।

२५ सेखो पठविं विचेस्सति यमलोकं च इमं सदेवकं
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ।

२६ सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ।

२७ सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ।

२८ यो च गाथासतं भासे अनत्थपदसंहिता
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ।

२९ यो मुखसंयतो भिक्खु मन्तभाणी अनुद्धतो
अत्थं धम्मं च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ।

११. धर्मपदं संचिनुयात्

२४. कौन इस पृथ्वी को और साथ ही यमलोक और देवलोक को भी अछूता छोड़कर कुशल मालाकार (सुदर्शित) पुष्प की भाँति सुदर्शित धर्म के पद (वचन) चुन लेगा ?

२५. जिज्ञासु शिष्य ही इस पृथ्वी को और उसके साथ यमलोक और देवलोक को भी अछूता छोड़कर कुशल मालाकार (सुदर्शित) पुष्प की भाँति सुदर्शित धर्म के पद (वचन) चुन लेगा।

२६. निरर्थक पदों से युक्त सहस्रों वचनों से भी एक सार्थक पद श्रेयस्कर है, जिसके श्रवण से शांति-लाभ हो।

२७. निरर्थक पदों से युक्त सहस्रों गाथाओं से भी वह एक गाथा-पद श्रेयस्कर है, जिसके श्रवण से शांति-लाभ हो।

२८. निरर्थक पदों से भरी सौ गाथाओं के रटने से एक सार्थक धर्म का पद श्रेयस्कर है, जिसके श्रवण से शांति-लाभ हो।

२९. जो भिक्षु (सदा) वाक्संयम रखता है और जब बोलता है तब सोचकर ही बोलता है तथा जो भी बोलता है नम्रता के साथ अर्थ और धर्म को प्रकाशित करता हुआ बोलता है, उसीका भाषण मधुर होता है।

१२ यथा ब्रूयात् तथा कुर्यात्

३० बहुं पि चे सहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो
गोपो व गावो गणयं परेसं न भागवा सामञ्ञस्स होति ।

३१ अप्पं पि चे सहितं भासमानो धम्मस्स होति अनुधम्मचारी
रागं च दोसं च पहाय मोहं सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो
अनुपादियानो इध वा हुरं वा स भागवा सामञ्ञस्स होति ।

३२ यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ।

३३ यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं
एवं सुभासिता वाचा सफला होति सकुब्बतो ।

१२. यथा ब्रूयात् तथा कुर्यात्

३०. भले ही कोई बहुत-सी संहिता (धर्म-ग्रंथ की पंक्तियाँ) कंठ कर ले, परन्तु प्रमादवश उसका आचरण न करे, तो वह दूसरों की गौएँ गिननेवाले चरवाहे के समान श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता।

३१. भले ही किसीको इनी-गिनी संहिता कंठ हो, परन्तु वह यदि (उसमें उपदिष्ट) धर्म का आचरण करता है अर्थात् राग, द्वेष और मोह को छोड़ सम्यक्ज्ञान से मुक्तचित्त होकर इहलोक या परलोक की किसी भी वस्तु के प्रति निरभिलाष हो गया है, तो वह श्रामण्य का अधिकारी होता है।

३२. जैसे कोई सुन्दर फूल (बाहरी रूप) रंग से चमकदार होकर सुगंध (आन्तरिक गुण) से रहित होता है, वैसे ही आचरण न करनेवाले की सुभाषित वाणी निष्फल होती है।

३३. जैसे कोई सुन्दर फूल रंग से चमकदार होकर साथ ही सुगन्ध से भी महकता रहता है, वैसे ही आचरण करनेवाले की सुभाषित वाणी सफल होती है।

३ : सत्संगतिः

१३ मूढसङ्गाद् वरं अेकचर्यम्

१ स चे लभेथ निपकं सहायं सद्धिचरं साधुविहारिधीरं
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि चरेय्य तेन'त्तमनो सतीमा ।

२ नो चे लभेथ निपकं सहायं सद्धिचरं साधुविहारिधीरं
राजा व रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातङ्गरञ्ञो व नागो ।

३ एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता
एको चरे न च पापानि कयिरा अप्पोस्सुक्को मातङ्गरञ्ञो व नागो।*

४ चरं चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो
एकचरियं दळ्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता ।

---

* [अनुष्टुप् और उपजाति]

३ : सत्-संगति

१३. मूढसङ्गाद् वरं अेकचर्‍यम्

१. यदि साथ चलनेवाला कोई सदाचारी बुद्धिमान् और अनुभवी साथी मिल जाय तो सब अंतरायों को जीतकर उसीके साथ स्मृतिमान् होकर मनस्वी पुरुष चल दे ।

२. परंतु यदि साथ चलनेवाला कोई सदाचारी बुद्धिमान् और अनुभवी साथी न मिले, तो जैसे कोई (पराजित) राजा अपना विजित राष्ट्र छोड़कर अकेला ही जंगल में घूमता है, या जैसे कोई एकल हाथी अकेला ही जंगल में घूमता है, वैसे अकेला ही विचरण करे ।

३. एकचर्य (एकाकी चलना) भी बेहतर है, मूर्ख में साथ देने की क्षमता नहीं होती । जैसा एकल हाथी (हथिनी एवं शावकों के संग की आशा न रखता हुआ और यदृच्छालब्ध खान-पान की) अल्प आशा रखता हुआ जंगल में अकेला विचरण करता है, उसी तरह अकेला विचरण करे और पाप-कर्मों से बचा रहे ।

४. विचरण करते हुए यदि अपने से श्रेष्ठ या (कम-से-कम) बराबरी का कोई साथी न मिले तो एकचर्य पर ही अटल रहना चाहिए। क्योंकि मूर्ख में साथ देने की क्षमता नहीं होती ।

१४ प्राज्ञ-सङ्ग:

५ साहु दस्सनमरियानं सन्-निवासो सदा सुखो
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया।

६ बालसङ्गतचारी हि दीघमद्धान सोचति
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं व समागमो।

७ तस्मा हि
धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा।

८ निधीनं व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं
निग्गय्हवादिं मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो।

९ ओवदेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये
सतं हि सो पियो होति असतं होति अप्पियो।

१० न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे।

१४. प्राज्ञ-सङ्गः

५. आर्यों का दर्शन (सदा) हितकर है। सत्-पुरुषों का सहवास सदा सुखकर है। मूर्खों के अदर्शन से (उनसे सदा दूर रहने से) ही मनुष्य सदा सुखी होता है।

६. मूढ़जनों की संगति करनेवाला दूर तक (इहलोक से परलोक तक) शोक ही करता रहता है। शत्रुओं की संगति के समान मूढ़जनों की संगति सदा दुःखदायी ही होती है और बन्धुओं की संगति के समान धीर पुरुष की संगति सदा ही सुखदायी होती है।

७. इसलिए जैसे चन्द्रमा नक्षत्र-पथ का अनुसरण करता है, वैसे ही सत्-पुरुष का जो कि धीर, प्राज्ञ, बहुश्रुत, नेतृत्वशाली, व्रती, आर्य तथा बुद्धिमान् है अनुसरण करें।

८. गड़े धन दिखा देनेवाले के समान कोई (अपने छिपे) दोष दिखा देनेवाला दिखायी दे तो उस वाक्ताडन करनेवाले बुद्धिमान् पण्डित की उपासना करनेवाले का सदा कल्याण ही होता है, कभी अकल्याण नहीं होता।

९. जो खरी-खरी सुनाता है, सन्मार्ग बताता है तथा असन्मार्ग से बचाता है, वही सज्जनों को प्रिय होता है और असज्जनों को अप्रिय।

१०. न दुराचारी मित्रों की संगत करे, न अधम पुरुषों का ही संग करे। सदाचारी मित्रों की संगति करे और उत्तम पुरुषों का ही संग करे।

१५ साधु-पूजा

११ मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं
एकं च भावित'त्तानं मुहुत्तमपि पूजये
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ।

१२ यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने
एकं च भावित'त्तानं मुहुत्तमपि पूजये
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ।

१३ यं किंचि यिट्ठं व हुतं व लोके संवच्छरं यजेथ पुञ्ञापेक्खो
सब्बं पि तं न चतुभागमेति अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ।

१४ अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्धापचायिनो
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ।

१५ यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासंबुद्धदेसितं
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं व ब्राह्मणो ।

१६ पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे–

१५. साधु-पूजा

११. कोई प्रतिमास सहस्र-सहस्र (रुपयों) की दक्षिणा देकर सौ वर्ष (अर्थात् जीवनभर) यज्ञ करता है और कोई भावितात्मा (परिशुद्ध मनवाले) पुरुष की मुहूर्तभर पूजा करता है, तो इन दोनों में शतवर्ष यज्ञ से वह मुहूर्तभर की पूजा ही श्रेष्ठ है।

१२. कोई जन सौ वर्ष वन में अग्नि की परिचर्या करता है और दूसरा कोई भावितात्मा की मुहूर्तभर ही पूजा करता है, तो इन दोनों में शतवर्ष हवन से वह मुहूर्तभर की पूजा ही श्रेष्ठ है।

१३. इस लोक में जो कुछ भजन या हवन किया, पुण्य के लोभ से वर्षभर यज्ञ-सत्र भी चलाया, फिर भी वह सारा सरल-चरित पुरुषों को किये अभिवादन (के पुण्य) के चौथाई के भी बराबर नहीं होता। उससे तो (संतों को) अभिवादन (अपने नामोच्चारणपूर्वक प्रणाम) ही श्रेष्ठ है।

१४. जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करता है, उसकी चार बातें (धर्म) बढ़ती हैं–आयु, वर्ण याने पुष्टि, सुख और बल।

१५. जिससे सम्यक् संबुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाना जाय, उसको वैसे ही प्रणाम किया जाय, जैसे ब्राह्मण अग्निहोम को सत्कारपूर्वक प्रणाम करता है।

१६. पूजनीय बुद्ध हों या उनके श्रावक–जो प्रपंच को पार कर गये हैं, जो शोक और भय को तर गये हैं,

१७ ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये
न सक्का पुञ्ञं सङ्खातुं इमेत्तमपि केनचि ।

१६ सन्तः प्रकाशन्ते

१८ दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा
दुक्खोऽसमानसंवासो दुक्खानुपतित'द्धगू
तस्मा न च'द्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया ।

१९ सद्धो सीलेन संपन्नो यसोभोगसमप्पितो
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ।

२० दूरे सन्तो पकासन्ति हिमवन्तो व पब्बतो
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा ।

१७. जो निवृत्त हुए हैं और अतएव सर्वथा निर्भय हुए हैं, ऐसे पुरुषों की पूजा करनेवाले के पुण्य की मात्रा को आँकना किसीके लिए भी संभव नहीं।

१६. सन्तः प्रकाशन्ते

१८. यथाविधि ग्रहण न की हुई प्रव्रज्या दुःखदायी होती है। ठीक से न रखा हुआ घर दुःखदायी होता है। असमान लोगों का सहवास दुःखदायी होता है। (घर से दूर पड़ा) पथिक दुःखी होता है। इसलिए न (संसार का) पथिक ही बने, न दुःखी ही हो।

१९. श्रद्धा और शील से सम्पन्न, यश और भोग से पुष्ट (पुरुष) जहाँ कहीं जाता है, सर्वत्र पूजित होता है।

२०. हिममंडित पर्वत-शिखरों के समान सन्त दूर से भी दिखाई देते हैं। परंतु असन्त रात्रि में छोड़े बाण की भाँति यहीं (पास में पड़े होने पर भी) नहीं दिखाई देते।

४ : कर्म-विपाक:

१७ अभित्वरेत कल्याणे

१ यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं ।

२ अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमती मनो ।

३ यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो न प्पमज्जति
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ।

४ यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिधीयति
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ।

५ वाणिजो व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो
विसं जीवितुकामो व पापानि परिवज्जये ।

६ पाणिम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ।

४ : कर्म-विपाक

१७. अभित्वरेत कल्याणे

१. जैसे कोई फूलों की राशि में से (एक-एक फूल चुनकर धागे में पिरोता हुआ अनेक फूलों की एक लम्बी) माला बनाता है, वैसे ही जन्म लेकर (इस जन्म के धागे में एक-एक पुण्य कर्म पिरोते हुए) मनुष्य को एक पुण्य की लम्बी माला ही बनानी चाहिए।

२. पुण्य (कर्म) करने में शीघ्रता करे। पाप (कर्म) से चित्त को निवृत्त करे। पुण्य (कर्म) करने में आलस्य या शिथिलता करनेवाले का मन पाप में रमने लगता है।

३. पहले प्रमाद हो जाने पर बाद में जो प्रमाद नहीं करता, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की तरह इस लोक को प्रकाशित करता है।

४. जिसका किया हुआ पाप अनन्तर उसीके किये हुए पुण्य से ढँक जाता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की तरह इस लोक को प्रकाशित करता है।

५. जिसके साथी थोड़े हैं, लेकिन जिसके पास बहुत धन है ऐसा बनिया जिस तरह भयकारी (जंगल का) मार्ग छोड़ देता है, या जिस तरह जीने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति विष से दूर ही रहता है, उसी तरह पापों से दूर रहना चाहिए।

६. हाथ में घाव न हो तो हाथ में विष लिया जा सकता है। क्योंकि घाव न हो तो शरीर में विष नहीं लगता। इसी तरह जो करता ही नहीं, उसे पाप नहीं लगता।

७ पापं चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं
न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ।

८ पुञ्ञं चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ।

१८ पाप-पुण्ये उभयत्र फलत:

९ इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति
सो सोचति सो विहञ्ञति दिस्वा कम्म किलिट्ठमत्तनो ।

१० इध मोदति पेच्च मोदति कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति
सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्म विसुद्धिमत्तनो ।

११ इध तप्पति पेच्च तप्पति पापकारी उभयत्थ तप्पति
पापं मे कतं ति तप्पति भिय्यो तप्पति दुग्गतिं गतो ।

१२ इध नन्दति पेच्च नन्दति कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति
पुञ्ञं मे कतं ति नन्दति भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो ।

७. मनुष्य से यदि पाप हो ही जाय तो उसे बार-बार न दुहराये, उसमें रत न हो क्योंकि पाप पर पाप करना दु:खदायी है ।

८. मनुष्य यदि पुण्य करे तो उसे बार-बार दुहराये । उसीकी इच्छा करता रहे क्योंकि पुण्य करना सुखदायी है ।

१८. पाप-पुण्ये उभयत्र फलतः

९. पापकर्म का कर्ता इस लोक में शोक करता है और परलोक में (जाकर भी) शोक ही करता है। वह दोनों लोकों में शोक करता है । अपना (क्लेशकर) अशुभ कर्म देखकर वह शोक करता है, तड़पता है ।

१०. पुण्यकर्म का कर्ता इस लोक में मुदित होता है और परलोक में (जाकर) भी मुदित ही होता है । वह दोनों लोकों में मुदित होता है । अपना (सुखकर) शुभकर्म देखकर वह मुदित होता है, प्रमुदित होता है ।

११. पापकर्म का कर्ता इस लोक में संतप्त होता है और परलोक में (जाकर) भी संतप्त ही होता है। वह दोनों लोकों में संतप्त ही होता है। 'मैंने पाप किया' कहकर वह (इस लोक में) संतप्त होता है और (परलोक में) दुर्गति को प्राप्त होकर फिर से संतप्त होता है ।

१२. पुण्यकर्म का कर्ता इस लोक में आनंदित होता है और परलोक में भी आनंदित ही होता है । वह दोनों लोकों में आनंदित होता है । 'मैंने पुण्य किया' कहकर वह (इस लोक में) आनंदित होता है और (परलोक में) सुगति को पाकर फिर से आनंदित होता है ।

१९ पापपुण्य-फले अपरिहार्य्ये

१३ पापो पि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति ।

१४ भद्रो पि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ।

१५ माप्प मञ्ञेथ पापस्स न मं तं आगमिस्सति
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो पि पूरति
पूरति बालो पापस्स थोकथोकं पि आचिनं ।

१६ माप्प मञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मं तं आगमिस्सति
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो पि पूरति
पूरति धीरो पुञ्ञस्स थोकथोकं पि आचिनं ।

१७ न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स
न विज्जती सो जगति प्पदेसो यत्र ट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ।

१८ न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स
न विज्जती सो जगति प्पदेसो यत्र ट्ठितं न प्पसहेथ मच्चु ।

२० पाप-विपाको रुदनम्

१९ चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना
करोन्ता पापकं कम्मं यं होति कटुकप्फलं ।

१९. पापपुण्य-फले अपरिहार्ये

१३. जब तक पाप पकता नहीं (उसका फल नहीं मिलता) तब तक पापकर्ता को वह अच्छा ही लगता है। जब वह पक जाता है, तभी पापकर्ता को अपना पाप दिखाई देता है।

१४. जब तक पुण्य पकता नहीं, तब तक पुण्यकर्ता को पुण्य भी पाप-सा लगता है। परन्तु जब पुण्य पक जाता है तभी पुण्य-कर्ता को अपना पुण्य दिखाई देता है।

१५. 'पाप मुझसे न बनेगा' यों पाप की अवहेलना न करे। जैसे बूँद-बूँद से घट भरता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य थोड़ा-थोड़ा संचय करते हुए पाप (का घड़ा) भर लेता है।

१६. 'पुण्य मुझसे न बनेगा' यों पुण्य की अवहेलना न करे। जैसे बूँद-बूँद से घट भरता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य थोड़ा-थोड़ा संचय करते हुए पुण्य (का घड़ा) भर लेता है।

१७. संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं—न अंतरिक्ष में, न समुद्र के गर्भ में, न पर्वतों की गुफाओं में—कि जिसमें घुसकर (छिपने से) मनुष्य पापकर्म से (उसके कड़वे फल से) बच सके।

१८. संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं—न अंतरिक्ष में, न समुद्र के गर्भ में, न पर्वतों की गुफाओं में ही—कि जिसमें घुसकर (छिपने से) मनुष्य मृत्यु से बच सके।

२०. पापमेव मृत्युः

१९. दुर्बुद्धि अज्ञ जन स्वयं अपने ही साथ शत्रु जैसा व्यवहार करते हैं। वे ऐसा पापकर्म करते हैं जिसका फल कटु होता है।

२० न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ।

२१ तं च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ।

२२ अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं
कतं च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ।

२३ मधु वा मञ्ञती बालो याव पापं न पच्चति
यदा च पच्चती पापं अथ बालो दुक्खं निगच्छति ।

२४ न हि पापं कतं कम्मं सज्जु-खीरं व मुच्चति
डहं तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नो व पावको ।

२५ अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो व तप्पति ।

२६ अयसा व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादति
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं ।

२०. उस काम का करना ठीक नहीं जिसके करने पर पश्चात्ताप हो और फल आँसू बहाते व विलपते भोगना पड़े।

२१. वही कर्म भला है जिसके करने पर मनुष्य को पश्चात्ताप नहीं होता तथा जिसका फल निःशंक व प्रसन्न चित्त से भोगता है।

२२. दुष्कर्म न करना ही अच्छा, क्योंकि दुष्कर्मी को पश्चात्ताप करना पड़ता है। सत्कर्म करना ही अच्छा, जिसके करने पर पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता।

२३. जब तक पाप पक नहीं जाता (उसका फल नहीं मिलता) तब तक मूर्ख को वह मधु के समान मीठा लगता है। परन्तु जब पाप पक जाता है तब (उसका कड़वा फल चखकर) दुःख होता है।

२४. किया हुआ पापकर्म दूध के समान तत्काल नहीं बिगड़ता। वह राख से ढँके अंगारे के समान धीरे-धीरे सुलगकर मूर्ख का पीछा करता है। (और अंत में उसे जला डालता है।)

२५. पापकर्म करते समय मूर्ख नहीं बूझता (कि मैंने बुरा किया है और उसका फल बुरा ही होगा) परन्तु उन्हीं कर्मों से वह (ढँके) अंगारे से जले की भाँति पश्चात्ताप करता है।

२६. मोर्चा लोहे से उत्पन्न होकर उसीको खाता जाता है। उसी तरह सदाचार की मर्यादा लाँघनेवाले के अपने (दुष्) कर्म उसे ही दुर्गति को पहुँचाते हैं।

५ : नीतिः

२१ उभे दृष्टी

१ अलज्जिताये लज्जन्ति लज्जिताये न लज्जरे
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ।

२ अभये भयदस्सिनो भये चाभयदस्सिनो
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ।

३ अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ।

४ वज्जं च वज्जतो ञत्वा अवज्जं च अवज्जतो
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ।

५ असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासंकप्पगोचरा ।

६ सारं च सारतो ञत्वा असारं च असारतो
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासंकप्पगोचरा ।

५ : नीति

२१. उभे दृष्टी

१. अलज्जा (के काम) में जो लज्जा करते हैं और लज्जा (के काम) में अलज्जा, वे लोग मिथ्या-दृष्टि के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

२. भयरहित (काम) में जो भय करते हैं और भय (के काम) में अभय, वे लोग मिथ्यादृष्टि के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३. जो अनिन्द्य को निन्द्य तथा निन्द्य को अनिन्द्य देखते हैं, वे लोग मिथ्यादृष्टि के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

४. जो निन्द्य को निन्द्य तथा अनिन्द्य को अनिन्द्य कहकर जानते हैं, वे सम्यक् दृष्टि के कारण सुगति को प्राप्त होते हैं।

५. जो असार को सार मानते हैं तथा सार को असार, वे मिथ्या-संकल्प के भाजन (लोग) सार को प्राप्त नहीं होते।

६. जो सार को सार कहकर जानते हैं और असार को असार, वे सम्यक्-संकल्प के भाजन (पुरुष ही) सार को प्राप्त होते हैं।

२२ धर्‌मं सुचरितं चरेत्

७ हीनं धम्मं न सेवेय्य पमादेन न संवसे
मिच्छादिट्‌ठिं न सेवेय्य न सिया लोकवड्ढनो ।

८ उत्तिट्‌ठे न प्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ।

९ धम्मं चरे सुचरितं न नं दुच्चरितं चरे
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ।

२३ शुद्धाजीवो दुर्‌लभः

१० सुजीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिना
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्‌ठेन जीवितं ।

११ हिरीमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना
अलीनेन'प्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ।

१२ सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च
यं वे हितं च साधुं च तं वे परमदुक्करं ।

२२. धर्मं सुचरितं चरेत्

७. हीन धर्म का सेवन न करे। न प्रमाद से (ही) रहे। मिथ्या-दृष्टि न रखे। न आवागमन को ही बढ़ाये।

८. उठे। प्रमाद न करे। धर्म का उत्तम आचरण करे। धर्मचारी इस लोक में तथा परलोक में सुख की नींद सोता है।

९. धर्म का आचरण निष्ठा से करे। शिथिलता से न करे। धर्म-चारी इस लोक में तथा परलोक में सुख की नींद सोता है।

२३. शुद्धाजीवो दुर्लभः

१०. (पापकर्म की) जिसे लज्जा नहीं, जो कौए जैसा (दूसरों के घावों में ही चोंच डालने में) शूर है, जो लूटपाट करता है, जो स्वैराचारी है, जो आक्रोश करता है तथा निन्द्य कर्मों से पेट भरता है उसका जीवन सुख से बीतता (देखा जाता) है।

११. परन्तु (पापकर्म की) जिसे लज्जा है, जो शुद्धि के लिए निरंतर यत्न करता है, जो सदा जाग्रत है, जो क्षमाशील है, (कार्याकार्य) जाननेवाला है, जो शुद्धाजीव है (अर्थात् अनिन्द्य उद्योगों से अपना पेट पालता है), उसका जीवन कष्ट से बीतता (देखा जाता) है।

१२. (दूसरों को पीड़ा देनेवाले) दुराचार तथा अपना ही अहित करनेवाले अनाचार करना सरल है। परन्तु जो (अपने लिए) हितकर है तथा (दूसरों के लिए) सुखकर है, ऐसा सदाचार करना बड़ा कठिन है।

२४ मूढ-संकल्पः

१३ दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं ।

१४ पुत्ता म'त्थि धनं म'त्थि इति बालो विहञ्ञति
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनं ।

१५ मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं
न सो सङ्खतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं ।

१६ यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ।

१७ असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारं च भिक्खुसु
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च–

१८ ममेव कत मञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि
इति बालस्स संकप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ।

२५ सज्जनं न दूषयेत्

१९ यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स
तमेव बालं पच्चेति पापं सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो ।

२४. मूढ-संकल्पः

१३. जागनेवाले के लिए रात लम्बी होती है। थके हुए के लिए योजन भी लम्बा होता है। (वैसे ही) सद्धर्म को न जाननेवाले अज्ञ लोगों के लिए (जन्म-मृत्यु-परंपरारूप) संसार (बड़ा) लम्बा होता है।

१४. 'पुत्र मेरे हैं', 'धन मेरा है', यों मूढ़ चिन्तातुर होता है। पर जहाँ शरीर भी अपना नहीं, वहाँ पुत्र और धन कैसे अपना होगा ?

१५. मूर्ख प्रतिमास कुश की अग्र से भोजन करे, तो भी वह धर्मज्ञों के सोलहवें अंश जितना भी (धर्म का) भागी नहीं होता।

१६. मूर्ख मनुष्य का सारा ज्ञान अनर्थकर ही होता है। वह उसके (प्रज्ञारूप) मस्तक को काटकर उसके (सदाचाररूप) शुक्लांश का हनन करता है।

१७. (मुझे) झूठा बड़प्पन, भिक्षुओं में अगुआपन, मठों में प्रभुता तथा दूसरे कुलों में पूजा मिले,

१८. गृही और भिक्षु दोनों ही मेरे ही किये हुए को प्रमाण मानें और कार्याकार्य के विषय में सभी मेरे ही अधीन चलें, इस तरह मूर्ख का संकल्प, इच्छा और अभिमान बढ़ता रहता है।

२५. सज्जनं न दूषयेत्

१९. जो शुद्ध है, निर्मल है, ऐसे निर्दोष पुरुष को जो दोष लगाता है, उस मूर्ख को ही वह पाप लगता है, जिस तरह कि वायु के मुँह पर फेंकी धूल फेंकनेवाले के मुँह पर लगती है।

२० यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति
दसन्नमञ्ञातरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति–

२१ वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स च भेदनं
गरुकं वा पि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे–

२२ राजतो वा उपस्सग्गं अब्भक्खानं व दारुणं
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुरं–

२३ अथव'स्स अगारानि अग्गि डहति पावको
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति ।

२६ निषिद्धाचाराः

२४ यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति ।

२५ सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति
इधेव मेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो ।

२६ एवं भो पुरिस जानाहि पापधम्मा असंयता
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ।

२७ सेय्यो अयोगुळो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो
यं चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असंयतो ।

२८ चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जति परदारूपसेवी
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ।

२०. जो अदण्ड को दण्ड देता है, निर्दोष को दोष लगाता है, उसे दस में से कोई न कोई प्रतिफल शीघ्र ही मिलता है।

२१. वह दारुण वेदना, हानि, अंग-भंग, भारी बीमारी तथा चित्त-विक्षेप को प्राप्त होता है।

२२. वह राजभय, असह्य निन्दा, बान्धवों का विनाश तथा भोगों के क्षय को प्राप्त होता है।

२३. अथवा उसका सारा घरबार अग्नि जला डालता है और शरीर छूटने पर वह नरक को प्राप्त होता है।

२६. निषिद्धाचाराः

२४. जो जीव हिंसा करता है, असत्य वचन बोलता है, चोरी करता है, परस्त्री-गमन करता है तथा

२५. मद्यपान करता है, वह इसी लोक में अपनी ही जड़ खोदता है।

२६. हे पुरुष, जान ले कि ऐसे होते हैं असंयत लोग, पापकर्म करने-वाले। लोभ और अधर्म तुझे चिरकाल दुःख में न सड़ाये।

२७. संयम छोड़ दुराचार कर देश का अन्न खाने की अपेक्षा अग्नि-शिखा के समान (जलता) लोहे का गोला खाना बेहतर है।

२८. परस्त्रीगामी प्रमादी पुरुष को चार फल मिलते हैं—१. उसे पाप लगता है; २. उसे अच्छी नींद नहीं आती; ३. उसकी सर्वत्र निन्दा होती है और ४. मरने पर वह नरक में जाता है।

२९ अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका भीतस्स भीताय रती च थोकिका
राजा च दण्डं गरुकं पणेति तस्मा नरो परदारं न सेवे ।

२७ निरय-गतिः

३० अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि कत्वा न करोमि चाह
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ।

३१ कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असंयता
पापा पापेहि कम्मेहि निरयं ते उपपज्जरे ।

२८ पुनःपुनर् गर्भवासः

३२ मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता संपरिवत्तसायी
महावराहो व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ।

२९. उसे पाप लगता है। दुर्गति होती है। भयभीत पुरुष की भयभीत स्त्री से जो रति होती है, वह अत्यल्प होती है, राजा भी भारी दण्ड देता है। इसलिए मनुष्य परस्त्री-सेवन न करे।

२७. निरय-गतिः

३०. न करके जो किया बताता है या करके भी जो 'मैंने नहीं किया' कहता है, वे दोनों ही (असत्य भाषणरूप) अत्यन्त हीन कर्म करनेवाले मरने पर परलोक में एक समान बन जाते हैं।

३१. गले में काषाय वस्त्र पहने कितने ही पापकर्मी असंयमी होते हैं। वे पापी अपने पापकर्मों से नरक में पड़ते हैं।

२८. पुनःपुनर् गर्भवासः

३२. जो मोटा-ताजा होने पर भी बहुत खानेवाला, निद्रालु होते हुए भी करवट बदल-बदलकर सोनेवाला होता है, वह मन्द पुरुष खुराक पर पले मोटे सूअर के समान बार-बार गर्भ को प्राप्त होता है। ●

६ : अ-निन्दा

२९ नास्ति लोके न निन्दितः

१ पोराणमेतं अतुल नेतं अज्जत्तनामिव
निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं
मितभाणिनं पि निन्दन्ति नत्थि लोके अनिन्दितो।

२ न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति
एकन्तं निन्दितो पोसो एकन्तं वा पसंसितो।

३० उभयत्र प्रशंसितः

३ यं चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्ञासीलसमाहितं।

४ नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति
देवा पि नं पसंसन्ति ब्रह्मुना पि पसंसितो।

५ सीलदस्सनसंपन्नं धम्मट्ठं सच्चवेदिनं
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं।

६ चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं।

७ तथेव कतपुञ्ञं पि अस्मा लोका परं गतं
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति पियं ञाती व आगतं।

६ : अनिन्दा

२९. नास्ति लोके न निन्दितः

१. हे अतुल ! यह कोई आज की बात नहीं, पुरानी ही है कि लोग चुप बैठनेवाले की निन्दा करते हैं और बहुत बोलनेवाले की भी मितभाषी की भी लोग निन्दा करते हैं। संसार में निन्दा से कोई नहीं बचा।

२. जिसकी केवल निन्दा ही निन्दा हुई या केवल प्रशंसा ही हुई, ऐसा पुरुष न कभी हुआ, न आगे होगा, न आज है।

३०. उभयत्र प्रशंसितः

३. विचारपूर्वक प्रतिदिन विज्ञ जिसकी प्रशंसा करते हैं, उस शील-समाधि और प्रज्ञा-सम्पन्न बुद्धिमान् और निर्दोष

४. सोने के सिक्के जैसे खरे पुरुष की कौन निन्दा कर सकता है ? उसकी प्रशंसा देव भी करते हैं और ब्रह्मा भी करता है।

५. शील और दर्शन से सम्पन्न, धर्म में स्थित, सत्यवादी और स्वकर्तव्य-रत पुरुष को सभी जन प्यार करते हैं।

६. दीर्घ काल के बाद बहुत दूर विदेश से सकुशल लौटे पुरुष का बन्धु-बान्धव, मित्र, हितैषी स्वागत करते हैं।

७. उसी तरह इस लोक से परलोक सिधारे (पुण्यशील) पुरुष का उसके पुण्यकर्म घर आये प्रिय बन्धु के समान स्वागत करते हैं।

३१ निन्दोपकारः

८ हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्रो कसामिव ।

९ अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो आतापिनो संवेगिनो भवाथ
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च समाधिना धम्मविनिच्छयेन च
संपन्नविज्जाचरणा पटिस्सता पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं ।

३२ अतिवाक्यं तितिक्षस्व

१० अहं नागो व सङ्गामे चापतो पतितं सरं
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो ।

११ दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु योऽतिवाक्यं तितिक्खति ।

३३ आत्मार्थचिन्ता कर्तव्या

१२ अत्तानमेव पठमं पटिरूपे निवेसये
अथ'ञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ।

१३ अत्तानं चे तथा कयिरा यथ'ञ्ञमनुसासति
सुदन्तो वत दमेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ।

३१. निन्दोपकार:

८. लज्जा ही जिसे पाप से बचाती है, ऐसा पुरुष संसार में बिरला ही होता है। जिस तरह उत्तम घोड़ा कोड़े की फटकार नहीं सह सकता, उसी तरह वह निन्दा नहीं सह सकता।

९. कोड़े से फटकारे गये उत्तम घोड़े की तरह तड़प और झड़प से काम मे जुट जाओ। श्रद्धा, शील, वीर्य, समाधि, धर्मविनिश्चय, विद्या और आचार तथा स्मृति से सम्पन्न होकर इस (संसार-रूप) अनल्प दुःख को तुम पार कर सकोगे।

३२. अतिवाक्यं तितिक्षस्व

१०. युद्ध में हाथी धनुष से छोड़े बाण को सहता है, उसी तरह मैं वाग्बाणों को सहूँगा। यह सारा समाज दुःशील ही तो है।

११. दान्त (दमन किये हुए) को ही युद्ध में (या समाज में) ले जाया जाता है। दान्त (हाथी-घोड़े) की ही राजा सवारी करता है। दान्त (सहनशील) ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है जो कि वाग्बाणों को सहता है।

३३. आत्मार्थचिन्ता कर्तव्या

१२. पहले अपने को ही आदर्श में ढाले। अनन्तर ही दूसरे को उपदेश दे। इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष क्लेश से बचता है।

१३. मनुष्य दूसरे को जैसा उपदेश देता है, वैसा स्वयं करे। अपना ठीक-ठीक दमन करे। अपना दमन ही वास्तव में कठिन है।

१४ अत्तना व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति
अत्तना अकतं पापं अत्तना व विसुज्झति
सुद्धी असुद्धी पच्चत्तं नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये।

१५ न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं
अत्तनो व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च।

१६ अत्तदत्थं परत्थेन बहुना पि न हापये
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया।

३४ परदोषान् नेक्षेत

१७ सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं
परेसं हि सो वज्जानि ओपुनाति यथा भुसं
अत्तनो पन छादेति कलिं व कितवा सठो।

१८ परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा सो आसवक्खया।

१९ आकासे पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता।

२० आकासे पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे
संखारा सस्सता नत्थि नत्थि बुद्धानमिञ्जितं।

१४. अपना पाप स्वयं को ही अशुद्ध करता है। अपने से न किया हुआ पाप अपने को ही शुद्ध करता है। शुद्धि या अशुद्धि हरएक की अपनी-अपनी होती है। कोई किसी दूसरे की शुद्धि नहीं कर सकता।

१५. दूसरों के छिद्र न देखे, न दूसरों के किये-न किये की आलोचना करे। अपने ही किये-न किये को देखे।

१६. दूसरों के बहुतेरे लाभ के कारण भी अपने हित की हानि न होने दे। अपना हित पहचानकर उसीमें लगा रहे।

३४. परदोषान् नेक्षेत

१७. दूसरे का दोष देखना सरल है, अपना दोष देखना कठिन है। दूसरे के दोष मनुष्य भूसे के समान (हवा में) उड़ाता है। परन्तु जिस तरह जुआरी हार के पाँसे को छिपाता है, उसी तरह मनुष्य अपने दोषों को छिपाता है।

१८. जो सदा दूसरों के दोष देखा करता है और आत्म-शुद्धि की ओर जिसका ध्यान ही नहीं, उसके आस्रव (चित्त-मल) बढ़ते हैं। आस्रव-क्षय (निर्वाण) से वह (कोसों) दूर है।

१९. आकाश में कोई पद (चिह्न) नहीं होता। श्रमण का कोई बाह्यरूप नहीं होता। लोग प्रपंच में पड़े रहते हैं, परन्तु तथागत निष्प्रपंच (प्रपंचरहित) होते हैं।

२०. आकाश में कोई पद (चिह्न) नहीं होता। श्रमण का कोई बाह्यरूप नहीं होता। 'संस्कार' शाश्वत नहीं होते। बुद्धों का इंगित (अता-पता) नहीं होता।

साधना

२ आतमनैवात्म-दमनं
देहानित्यत्व-दर्‌शनम् ।
जाग्रत्‌ता शोधनं चैव
प्रज्ञायोगो वितृष्णता ।।

७ : आत्म-दमनम्

३५ आत्म-घात:

१ अत्तना व कतं पापं अत्तजं अत्तसंभवं
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं व'म्हमयं मणिं ।

२ यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं मालुवा सालमिवोत्थतं
करोति सो तथ'त्तानं यथा नं इच्छती दिसो ।

३ यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फल्लति ।

४ हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो च पारगवेसिनो
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञे व अत्तनं ।

३६ आत्मदमन-प्रक्रिया

५ अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ।

६ अत्तना चोदय'त्तानं पटिमासे अत्तमत्तना
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खु विहाहिसि ।

७ : आत्म-दमन

३५. आत्म-घात:

१. जैसे वज्र पत्थर से पैदा होकर पत्थर को ही काटता है, वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य का पाप—जिसको उसीने जन्म दिया है और उसीने धारण किया है—उसीका नाश करता है।

२. मालुवा लता शाल वृक्ष को जिस तरह (चारों ओर से) घेर लेती है, उसी तरह जिसका दुराचार (दौश्शील्य) उसे घेरकर फैला हुआ है, वह स्वयं अपने प्रति वैसा ही करता है जैसा शत्रु उसके प्रति चाहते हैं।

३. पापदृष्टि का आश्रय कर जो दुर्बुद्धि मनुष्य अर्हन्त, आर्य तथा धर्मजीवी पुरुषों के शासन की निन्दा करता है, वह बाँस के समान आत्मघात के ही लिए फलता-फूलता है।

४. जो (संसार का) छोर नहीं खोजता उस दुर्बुद्धि मनुष्य को भोग पछाड़ते हैं। भोग-तृष्णा से दुर्बुद्धि मनुष्य शत्रुवत् अपना ही घात करता है।

३६. आत्मदमन-प्रक्रिया

५. (पुरुष) आप ही अपना स्वामी है। अपना स्वामी दूसरा कौन हो सकता है ? अपना ठीक दमन किया जाय तो वही (सुदान्त आत्मा) दुर्लभ स्वामी मिल जाता है।

६. आप ही अपने को प्रेरित करे। आप ही अपनी चौकीदारी करे। इस तरह स्वयं अपनी रक्षा कर और स्मृतिमान् होकर भिक्षु सुख-विहार कर सकेगा।

७ अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति
तस्मा संयमय'त्तानं अस्सं भद्रं व वाणिजो।

८ उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति सुब्बता।

९ वरमस्सतरा दन्ता आजानीया च सिन्धवा
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्तो ततो वरं।

१० न हि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं
यथ'त्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति।

३७ आत्म-विजय:

११ यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो।

१२ अत्ता ह वे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं संयतचारिनो।

१३ नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो।

७. (पुरुष) आप ही अपना स्वामी है। आप ही अपनी गति है। इसलिए वणिक् जिस तरह उत्तम घोड़े को प्रशिक्षित करता है, उसी तरह मनुष्य स्वयं अपने को संयम की शिक्षा दे।

८. बागवान अपनी इच्छा के अनुसार डाँड़ का पानी मोड़ते हैं। बाणकार बाण को मोड़ देते हैं। बढ़ई लकड़ी को आकार देते हैं। सदाचार के व्रती अपने को ही दान्त या विनीत बनाते हैं।

९. प्रशिक्षित खच्चर श्रेष्ठ होते हैं। प्रशिक्षित सिन्धुनद के किनारे के अच्छी जाति के घोड़े श्रेष्ठ होते हैं। प्रशिक्षित पहाड़ के जैसे बड़े हाथी श्रेष्ठ होते हैं। लेकिन जिसने अपने-आपको ठीक-ठीक संयम की शिक्षा दी है वह दान्त पुरुष इन सबसे श्रेष्ठ है।

१०. इन यानों (खच्चर, घोड़ों, हाथियों आदि) से कोई अगत दिशा निर्वाण को नहीं जा सकता, जैसा कि सम्यक् रीति से दमन किये हुए अपनी दान्त आत्मा से दान्त (संयमी) मनुष्य जा सकता है।

३७. आत्म-विजय:

११. युद्ध में सहस्रों मनुष्यों को जीतनेवाले से अपने-आपको जीतनेवाला आत्म-विजेता बड़ा युद्ध-विजेता है।

१२. इन सब लोगों को जीतने से अपने-आपको जीतना श्रेष्ठ है। जिसने अपना दमन किया है, जो संयम से चलता है;

१३. उस जैसे पुरुष के जीते (निर्वाण) को अजीता करनेवाला न कोई देव है, न गन्धर्व है और न तो ब्रह्मासहित मार ही है।

३८ चित्त-संयमः

१४ फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं
उजुं करोति मेधावी उसुकारो व तेजनं।

१५ दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकामनिपातिनो
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं।

१६ सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं
चित्तं रक्खेथ मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं।

१७ दूरंगमं एकचरं असरीरं गुहासयं
ये चित्तं संयमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना।

१८ वारिजो व थले खित्तो ओकमोकत उब्भतो
परिफन्दति'दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे।

१९ यथा अगारं दुच्छन्नं वुट्ठि समतिविज्झति
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति।

२० यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति।

३८. चित्त-संयम

१४. चंचल और चपल चित्त को एक जगह रोक रखना और किसी ओर जाने से रोकना कठिन है। जिस तरह बाणकार वाण को उसी तरह बुद्धिमान् अपने चित्त को ऋजु, सरल, सीधा बनाता है।

१५. जिसका निग्रह करना बड़ा कठिन है, जो बहुत तरल है और चाहे जहाँ झट चला जाता है ऐसे चित्त का दमन करना श्रेयस्कर है। दमन किया हुआ चित्त सुखावह होता है।

१६. जिसको देख लेना कठिन है, जो बड़ा चालाक है, जो जहाँ चाहे वहाँ झट चला जाता है—ऐसे चित्त का दमन करना श्रेयस्कर है।

१७. दूर-दूर जानेवाले, अकेले विचरनेवाले अ-शरीर (सूक्ष्म) और गुहाशय (गूढ़) चित्त का जो संयम करते हैं, वे मार के बन्धनों से मुक्त होते हैं।

१८. अपने जल-निवास से बाहर निकालकर स्थल पर फेंकी मछली जिस प्रकार तड़फड़ाती है, उसी तरह यह चित्त मार (राग, द्वेष, मोह) के फन्दे (विषयों) को छोड़ने के लिए तड़फड़ाता है।

१९. ठीक से न छाये हुए छप्पर को बेधकर जिस तरह वृष्टि घर के अन्दर पैठ जाती है, उसी तरह अभावित (भावनाभ्यास-रहित) चित्त में राग पैठ जाता है।

२०. ठीक से छाये हुए छप्पर को बेधकर जिस प्रकार वृष्टि घर के अन्दर नहीं पैठ पाती, उसी तरह सुभावित चित्त में राग नहीं पैठ पाता ।

२१ इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं
तदज्ज'हं निग्गहेस्सामि योनिसो हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो।

३९ चित्त-प्रणिधानम्

२२ अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ।

२३ अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो
पुञ्ञपापपहीनस्स नत्थि जागरतो भयं ।

२४ कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया ।

२५ दिसो दिसं यं तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे ।

२६ न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे वा पि च ञातका
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे ।

२१. यह चित्त पहले यथेच्छ यथाकाम यथासुख चर्या करता रहा। मतवाले हाथी को जिस तरह महावत काबू में लाता है, उसी तरह मैं अपने चित्त को उपाय से अपने वश में लाऊँगा।

३९. चित्त-प्रणिधानम्

२२. जिसका चित्त (समाधि में) स्थिर नहीं, जो सद्धर्म को नहीं जानता और जिसकी श्रद्धा डाँवाडोल है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं हो सकती।

२३. जिसके चित्त में (किसी विषय के प्रति) राग नहीं, और इसलिए (किसी विषय के लाभालाभ के कारण) जिसके चित्त में क्षोभ भी नहीं, उस पाप-पुण्य-विमुक्त जाग्रत (ज्ञानी) पुरुष को किसी भी तरह का भय नहीं होता।

२४. इस शरीर को (कच्चे) घड़े के समान (अनित्य, भंगुर) समझकर और चित्त को (प्राचीरवेष्टित) नगर के समान सुदृढ़ करके प्रज्ञारूप शस्त्र से मार के साथ लड़े। जीत के लाभ को सुरक्षित रखे और किसी (प्रापंचिक वस्तु) में आसक्त न रहे।

२५. द्वेषी द्वेषी की या वैरी वैरी की जितनी बुराई करता है, उससे भी बढ़कर अपना मिथ्या-प्रणिहित (भूला-भटका) चित्त अपनी बुराई करता है।

२६. माता-पिता या अन्य बन्धु-बान्धव जितनी भलाई करते हैं, उससे भी बढ़कर अपना सम्यक् प्रणिहित (सन्मार्गगामी) चित्त अपनी भलाई करता है। ●

८ : देहानित्यत्वम्

४० सर्वं मृत्युवशम्

१ फेणूपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधम्मं अभिसंबुधानो
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे।

२ पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं
सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति।

३ पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं।

४१ जरसं पश्य आगताम्

४ पण्डुपलासो व दानि'सि यमपुरिसा पि च तं उपट्ठिता
उय्योगमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यं पि च ते न विज्जति।

५ सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि।

६ उपनीतवयो च दानि'सि संपयातो सि यमस्स सन्तिके
वासो पि च ते नत्थि अन्तरा पाथेय्यं पि च ते न विज्जति।

८ : देहानित्यत्व

४०. सव्वं मृत्युवशम्

१. इस शरीर को फेन के समान (निःसार) जान तथा मृगजल की तरह (आभासिक) पहचान, मार के प्रलोभनों को काटकर मृत्युराज की दृष्टि से बचो ।

२. इस संसार के फूलों-जैसे आकर्षक विषयों को चुनने में भूले (बेखबर) पुरुष को मृत्यु वैसे ही उठा ले जाती है जैसे सोये हुए गाँव को बाढ़ ।

३. इस संसार के फूलों-जैसे आकर्षक विषयों को चुनने में भूले (बेखबर) पुरुष को, काम-भोगों में उसे तृप्ति होने के पहले ही, मृत्यु वश में कर लेती है, ग्रस लेती है ।

४१. जरसं पश्य आगताम्

४. तू पीले पत्ते जैसा है और तेरे पास यम के दूत भी आकर खड़े हैं । तू प्रयाण के लिए तैयार बैठा है, लेकिन तेरे पास पाथेय तो कुछ भी नहीं ।

५. अतः तू अपने लिए द्वीप (आश्रय-स्थान) बना । तुरंत काम में जुट जा । प्रज्ञावान् हो । मल को प्रक्षालित कर निष्कलंक बन । तभी तू दिव्य आर्यभूमि को प्राप्त होगा ।

६. तेरी आयु हो चुकी है । तू यम के पास पहुँच चुका है । बीच में कोई आश्रय भी नहीं है और न तेरे पास पाथेय ही है ।

७ सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुन जातिजरं उपेहिसि ।

४२ को नु हासः, क आनन्दः

८ को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ ।

९ यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ।

१० एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं
यत्थ बाला विसीदन्ति नत्थि सङ्गो विजानतं ।

४३ अस्थि-नगरम्

११ पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं
आतुरं बहुसंकप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ।

१२ परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं
भिज्जति पूतिसंदेहो मरणन्तं हि जीवितं ।

१३ यानिमानि अपत्थानि अलापूनेव सारदे
कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान का रति ।

७. सो तू अपने लिए द्वीप बना। तुरंत काम में जुट जा। प्रज्ञावान् हो। मल को प्रक्षालित कर निष्कलंक बन। फिर तू न जन्म और न जरा को ही प्राप्त होगा।

४२. को नु हासः, क आनन्दः

८. जब सब कुछ निरंतर जल रहा है तो हँसी कैसी, खुशी कैसी ? अन्धकार में डूबे हो और दीपक की खोज नहीं करते !

९. जो इस संसार को पानी के बुलबुले जैसा या मृगजल जैसा देखता है, उसे यमराज नहीं देखता।

१०. आओ, राजरथ के समान रंग-बिरंगे इस संसार को देखो—जिसमें मूढ़ आसक्त होते हैं, ज्ञानी आसक्त नहीं होते।

४३. अस्थि-नगरम्

११. इस सजाये देहाकार को देखो। यह व्रणों से युक्त तथा अंगोपांगों को जोड़कर बनाया हुआ है। यह अनेक संकल्प-विकल्पों से भरा है। और इसके बने रहने का कोई भरोसा भी नहीं है।

१२. यह देहाकार जरा-ग्रस्त है, रोगों का घर है और अत्यंत भंगुर है। यह सड़न का भण्डार (एक दिन) फूटता है। और निश्चय ही जीवन का अन्त मृत्यु में होता है।

१३. शरद् ऋतु की बेकार लौकी के समान (शुष्क) और कबूतरों की तरह भूरे रंग की ये हड्डियाँ देखकर (इस शरीर के प्रति) किसको मोह होगा ?

१४ अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं
यत्थ जरा च मच्चु च मानो मक्खो च ओहितो ।

१५ यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं
एवं जरा च मच्चु च आयुं पाचेन्ति पाणिनं ।

१६ अचिरं वत 'यं कायो पठविं अधिसेस्सति
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं व कलिङ्गरं ।

१७ जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता अथो सरीरं पि जरं उपेति
सतं च धम्मो न जरं उपेति सन्तो ह वे सब्भि पवेदयन्ति ।

१८ अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दो व जीरति
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ।

१४. (यह शरीर मानो ईंट-पत्थर जैसे) हड्डियों का बना नगर है। मांस और रक्त से लिपा-पुता है–जिसके अन्दर जरा व मृत्यु, मान व असूया बसे हैं।

१५. ग्वाला जैसे गायों को डंडे से हाँककर (घर से) चरागाह ले जाता है, वैसे ही जरा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाती है।

१६. अहो ! यह शरीर शीघ्र ही (जलाने के ही योग्य) बेकार काठ की भाँति क्षुद्र और अचेतन, पृथ्वी पर पड़ा रहेगा।

१७. राजरथ बड़े सुशोभित होते हैं सही, परन्तु आखिर वे भी पुराने हो (टूट) जाते हैं। वैसे ही यह (सुन्दर) शरीर भी जराजीर्ण (व मृत्युग्रस्त) हो जाता है। परन्तु संतों का धर्म कभी जीर्ण (और कालग्रस्त) नहीं होता। संत ही यह (तत्त्व) संतों को बताते हैं।

१८. यह अल्पश्रुत मनुष्य बैल जैसा (केवल आयु में) बढ़ता है। उसका मांस तो बढ़ता है, परन्तु उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ती।

९ : जागरूकता

४४ अप्रमादः अमृत-पदम्

१ अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ।

२ एतं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ।

३ ते झायिनो साततिका निच्चं दळ्हपरक्कमा
फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेमं अनुत्तरं ।

४ अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सिवा
संयोजनं अणुं थूलं डहं अग्गी व गच्छति ।

५ अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सिवा
अभब्बो परिहानाय निब्बानस्सेव सन्तिके ।

४५ अप्रमादेन मघवा

६ पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो
पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं
पब्बतट्ठो व भुम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ।

९ : जागरूकता

४४. अप्रमादोऽमृतपदम्

१. अप्रमाद अमृत का पद (पथ) है और प्रमाद है मृत्यु का पद । अप्रमत्त नहीं मरते । और प्रमत्त तो मृत-तुल्य ही हैं ।

२. यह अच्छी तरह जानकर अप्रमाद के विशेषज्ञ आर्यों के आचार में रत रहते हुए अप्रमाद में ही प्रमोद पाते हैं ।

३. वे ध्यान का निरंतर अभ्यास करनेवाले और सदा (प्रमाद को भगाने का) दृढ़ पराक्रम करनेवाले धीर पुरुष सर्वोत्तम योगक्षेमरूप निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

४. प्रमाद में भय देखनेवाला भिक्षु अप्रमाद में रत रहकर अग्नि के समान अणु-स्थूल संयोजनों (बंधनों) को (निर्वाण तक) जलाता जाता है ।

५. प्रमाद में भय देखनेवाला भिक्षु जो सदा अप्रमाद में रत रहा, निर्वाण को पहुँचा ही समझो । उसका पतन नहीं हो सकता ।

४५. अप्रमादेन मघवा

६. जब पंडित प्रमाद को अप्रमाद से दूर कर देता है तब जैसे कोई पर्वत पर चढ़कर नीचे भूमि पर खड़े लोगों को (क्षुद्र) देखे वैसे प्रज्ञारूपी प्रासाद पर चढ़कर वह स्वयं अशोक और धीर संसार में पड़ी जनता को शोक और मोह करती हुई देखता है ।

७ अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो
अबलस्सं व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो ।

८ अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ।

९ पमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना
अप्पमादं च मेधावी धनं सेट्ठं व रक्खति ।

४६ अप्रमाद-विवरणम्

१० उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो
संयतस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति ।

११ उट्ठानेन'प्पमादेन संयमेन दमेन च
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ।

१२ मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ।

१३ अप्पमादरता होथ सचित्तमनुरक्खथ
दुग्गा उद्धरथ'त्तानं पङ्के सन्नो व कुञ्जरो ।

७. जैसे तेज घोड़ा मन्द घोड़े को पीछे छोड़ आगे निकल जाता है, वैसे प्रमत्त जनों में अप्रमत्त और सुप्तजनों में अत्यन्त जाग्रत पुरुष (प्रमत्त और सुप्तजनों को पीछे छोड़कर) आगे निकल जाता है।

८. अप्रमाद के ही बल से मघवा देवों का इन्द्र बना। सभी अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं। प्रमाद की सदा निन्दा ही हुई है।

९. दुर्बुद्धि मूढ़ लोग प्रमाद में लगे रहते हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष महाधन के समान अप्रमाद की रक्षा करता है।

४६. अप्रमाद-विवरणम्

१०. जो उत्थानशील, स्मृतिमान्, शुचिकर्मा तथा निशम्यकारी (विचारपूर्वक काम करनेवाला) है, उस संयमी व धर्मजीवी अप्रमत्त पुरुष का यश बढ़ता रहता है।

११. उत्थान, अप्रमाद, संयम और दम से मेधावान् पुरुष को अपने लिए एक द्वीप (आश्रय-स्थान) बना लेना चाहिए, जिसे कोई (भव-) प्रवाह नष्ट न कर दे।

१२. न प्रमाद में लगे रहो, न कामासक्ति का ही गुणगान करो। प्रमादरहित ध्यान में लगा पुरुष (निर्वाण का) विपुल सुख पाता है।

१३. अप्रमाद में रत होकर अपने चित्त की रक्षा करो। दलदल में फँसा हाथी जिस तरह अपने को स्वयं ही छुड़ाता है उसी तरह संकट में से अपने को स्वयं ही उबार लो।

४७ विवित्त-सेवित्वम्

१४ कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ।

१५ तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिंचनो
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ।

१६ पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ।

१७ अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ।

१८ एकासनं एकसेय्यं एको चरमतन्दितो
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ।

१९ धनपालको नाम कुञ्जरो कटुकप्पभेदनो दुन्निवारयो
बद्धो कवलं न भुञ्जति सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ।

४७. विविक्त-सेवित्वम्

१४. पंडित जहाँ (सामान्य जनों का) जी लगना कठिन है उस एकान्त में घर से बेघर होकर आये और मलिन कर्मों का त्यागकर शुभकर्मों का ध्यान धरे।

१५. पंडित भोगों को छोड़ और उनका अभिलाष भी छोड़ केवल अकिंचन बनकर उस (एकान्त) में लवलीन रहे और चित्त के मलों से अपने को परिशुद्ध करे।

१६. (प्रथम) एकान्त का रस पीकर और (अनन्तर) उपशम का भी रस पीकर (मनुष्य अन्त में) धर्म-प्रीति का रस पीता हुआ निर्भय और निष्पाप हो जाता है।

१७. (भौतिक भोगरूप) लाभ का रास्ता दूसरा है और (आध्यात्मिक शान्तिरूप) निर्वाण का रास्ता दूसरा है। बुद्ध का श्रावक भिक्षु इसे ठीक से पहचानकर लोगों में सत्कार का कभी अभिनन्दन न करे बल्कि एकान्तवास को ही बढ़ाता जाय।

१८. अकेला बैठे, अकेला सोये, अकेला ही अतन्द्रित चले। अकेला ही अपना दमन करे। (इस तरह अकेला ही भिक्षु) वनान्त में रमा करे।

१९. धनपालक नाम का हाथी जिसके गण्डस्थल से मदस्राव हो रहा है और जो किसीके वश में नहीं आ सकता ऐसा जबरदस्त है, बन्धन में पड़ा ग्रास नहीं खा रहा है और निरन्तर हाथियों के वन का ही (अपने घर का ही) स्मरण कर रहा है।

४८ क्षणं साधयेत्

२० नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता।

४९ द्वियामा साधकस्य

२१ अत्तानं चे पियं जञ्ञा रक्खेय्य नं सुरक्खितं
तिण्णमञ्ञातरं यामं पटिजग्गेय्य पण्डितो।

४८. क्षणं साधयेत्

२०. सीमान्त का नगर जिस प्रकार अन्दर से और बाहर से पूर्ण सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार अपनी (अन्दर और बाहर कड़ी) चौकी रखे। कोई क्षण बगैर चौकी का न जाने दे। क्योंकि जो एक क्षण भी चौकी करने से चूकते हैं वे नरक में पड़े शोक किया करते हैं।

४९. द्वियामा साधकस्य

२१. यदि अपने पर प्रेम है तो अपने को (सदा) सुरक्षित रखे। और उसके लिए रात्रि के तीन प्रहरों में से एक प्रहर बुद्धिमान् पुरुष को अवश्य जागना चाहिए। ध्यान में लगाना चाहिए।

१० : शोधनम्

५० यौवने ब्रह्मचर्यम्

१ अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं
जिण्णकोञ्चा व झायन्ति खीणमच्छे व पल्लले।

२ अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं
सेन्ति चापातिखीणा व पुराणानि अनुत्थुनं।

५१ मल-शोधनम्

३ अनुपुब्बेन मेधावी थोकं थोकं खणे खणे
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो।

४ असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं।

५ मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च।

६ ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो।

१० : शोधन

५०. यौवने ब्रह्मचर्यम्

१. जो (बाल्यावस्था में) ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, युवावस्था में धन नहीं कमाते, वे (वृद्धावस्था में) तालाब के किनारे बैठे बूढ़े क्रौंच (बगुले) के समान चिन्तामग्न होते हैं।

२. जो (बाल्यावस्था में) ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, युवावस्था में धन नहीं कमाते, वे (वृद्धावस्था में) अपनी बीती बातों को दोहराते हुए जीर्ण धनुष के समान पड़े रहते हैं।

५१. मल-शोधनम्

३. सुनार जसे चाँदी के मैल को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा प्रतिक्षण शुद्ध करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष को आत्मशुद्धि करनी चाहिए।

४. स्वाध्याय (पाठ) न करना मन्त्रों का मल है। (प्रातः उठकर) उद्यम (झाड़-बुहार) न करना घरों का मल है। सुस्ती शरीर का मल है। और प्रमाद (असावधानता) रक्षकों का (पहरेदारों का) मल है।

५. दुश्चरित्र (व्यभिचार) स्त्रियों का मल है। कंजूसी दाता का मल है। पापकर्म इस लोक और परलोक दोनों के मल हैं।

६. इन सब मलों से बड़ा मल है अविद्या। इस मल का परित्याग कर हे भिक्षुओ! निर्मल बन जाओ।

५२ कायादि-संवर:

७ कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे।

८ वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया
वचीदुच्चरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे।

९ मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे।

१० कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता।

११ चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो
घानेन संवरो साधु साधु जिव्हाय संवरो।

१२ कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति।

५३ मार-मोचनम्

१३ सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं व दुब्बलं।

५२. कायादि-संवरः

७. शरीर को प्रकुपित न होने दे। शरीर से संयत रहे। शरीर से दुराचरण छोड़कर शरीर से सदाचरण करे।

८. वाणी को प्रकुपित न होने दे। वाणी से संयत रहे। वाणी से दुराचरण छोड़कर वाणी से सदाचरण करे।

९. मन को प्रकुपित न होने दे। मन से संयत रहे। मन से दुराचरण छोड़कर मन से सदाचरण करे।

१०. जो धीर पुरुष शरीर से संयत होते हैं, वाणी से संयत होते हैं तथा मन से संयत होते हैं, वे ही परिसंयत होते हैं, सुसंयत होते हैं।

११. नेत्र का संवर (संयम) श्रेयस्कर है। श्रोत्र का संवर श्रेयस्कर है। घ्राण का संवर श्रेयस्कर है। जिह्वा का संवर श्रेयस्कर है।

१२. शरीर का संवर (संयम) श्रेयस्कर है। वाणी का संवर श्रेयस्कर है। मन का संवर श्रेयस्कर है। सर्वेन्द्रियों का संवर श्रेयस्कर है। सर्वत्र संयम किया हुआ भिक्षु सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

५३. मार-मोचनम्

१३. जिस तरह दुर्बल वृक्ष को आँधी गिरा देती है, उसी तरह विषय-रस को शुभ मानकर चलनेवाले, इन्द्रियों में असंयत, भोजन में मात्रा न जाननेवाले, सुस्त और अनुद्यमी पुरुष को मार (पाप) मार गिराता है।

१४ असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं
तं वे न प्पसहति मारो वातो सेलं व पब्बतं।

५४ आस्रव-क्षयः

१५ यं हि किच्चं अपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति
उन्नलानं पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा।

१६ येसं च सुसमारद्धा निच्चं कायगता सति
अकिच्चं ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो
सतानं संपजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा।

१७ सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं
निब्बानं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा।

१८ गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो
सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा।

१४. जिस तरह शिलामय पर्वत को आँधी नहीं गिरा सकती, उसी तरह विषय-रस को अशुभ मानकर चलनेवाले, इन्द्रियों में संयत, भोजन में मात्रा जाननेवाले, उत्साही और उद्यमी पुरुष को मार (पाप) मारकर गिरा नहीं सकता।

५४. आस्रव-क्षयः

१५. जो करने योग्य है उसको तो छोड़ देता है, लेकिन जो न करने योग्य है उसे करता है, ऐसे उमड़ते मलोंवाले और प्रमत्त पुरुषों के आस्रव (चित्त-मल) बढ़ते हैं।

१६. जो अपनी कायगता (क्षणभंगुरता, मलिनता आदि दोष-संबंधी) स्मृति नित्य उपस्थित रखते हैं, वे अकरणीय कभी नहीं करते और करणीय करने से कभी नहीं चूकते; उसमें सदा लगे ही रहते हैं। उन स्मृतिमान् और संप्रज्ञावान् पुरुषों के आस्रव अस्त हो जाते हैं।

१७. जो सदा जागरूक रहते हैं और रात-दिन शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं (अपने दोषों का क्षय और गुणों की वृद्धि करने में लगे रहते हैं) और एक निर्वाण ही जिनका परायण है—अन्तिम उद्दिष्ट है—उन्हींके आस्रव अस्त होते हैं।

१८. (मरने पर) कोई पुनः (इस लोक में) गर्भ में आते हैं। कोई दुराचारी होते हैं वे नरक में जाते हैं। कोई सदाचारी होते हैं वे स्वर्ग को जाते हैं और कोई अनास्रव (चित्त के मलों से रहित) पुरुष निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

१९ येसं संबोधियङ्गेसु सम्मा चित्तं सुभावितं
आदानपटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ।

५५ नैष्कर्म्य-सुखम्

२० न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पुन
अथवा समाधिलाभेन विवित्तसयनेन वा ।

२१ फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं
भिक्खु विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं ।

१९. जिन्होंने अपने चित्त को संबोधि-अंगों* में सम्यक् अभ्यस्त कराया है, जो अनासक्त होकर परिग्रह के त्याग में सदा निरत हैं, जिनके आस्रव परिक्षीण हुए हैं और जो (तप और ज्ञान से) द्योतमान हैं वे ही संसार में परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

५५. नैष्कर्म्य-सुखम्

२०. न केवल शील और व्रत के आचरण से, न बहुश्रुत होने से, न समाधि-लाभ से और न ही एकान्तवास करने से

२१. मैं सामान्य जनों के पहुँच से परे (उनके असेवित) निर्वाण का सुख भोगता हूँ। भिक्षुओ! जब तक आस्रवों का (पूर्ण) क्षय न हो जाय, तब तक (अपने निर्वाण-लाभ में) कदापि विश्वास न करो।

* संबोधि (परम ज्ञान) के सात अंग हैं: १. सति (स्मृति), २. धम्म-विचय (धर्म-परीक्षा), ३. विरिय (वीर्य, उद्योग), ४. पीति (आनन्द), ५. पस्सधि (प्रश्रब्धि, शान्ति), ६. समाधि, ७. उपेखा (उपेक्षा, तितिक्षा)।

११ : प्रज्ञायोग:

५६ प्रियाप्रिय-वियोगो योग:

१ अयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिं च अयोजयं
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेत'त्तानुयोगिनं ।

२ मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानं च दस्सनं ।

३ तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं ।

५७ योगेन प्रज्ञा-लाभ:

४ उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो
संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति ।

५ वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिरा
एते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ।

११ : प्रज्ञा-योग

५६. प्रियाप्रिय-वियोगो योगः

१. अयोग्य कर्म में लगा हुआ और योग्य कर्म में न लगा हुआ, हित छोड़ प्रिय को ग्रहण करनेवाला मनुष्य आत्मानुयोगी (अयोग्य कर्म छोड़ योग्य कर्म में लगे हुए अर्थात् प्रिय छोड़ हित को ग्रहण करनेवाले) पुरुष की स्पृहा (अभिलाषा) करता है।

२. प्रियों का संग न करे, न कभी अप्रियों का ही करे। प्रियों का अदर्शन (वियोग) दुःखद होता है और अप्रियों का दर्शन (योग) भी (वैसा ही दुःखद) होता है।

३. इसलिए किसीको अपना प्रिय न बनाये। प्रिय का वियोग दुःखद होता है। जिनके प्रियाप्रिय नहीं होते, उनमें ग्रन्थि नहीं होती (वे ही निर्ग्रन्थ होते हैं)।

५७. योगेन प्रज्ञा-लाभः

४. तरुण और बली होते हुए भी आलसी बनकर जो उठने के समय उठता नहीं, वह हतसंकल्प-निरुत्साह और आलसी पुरुष प्रज्ञा के मार्ग को नहीं पाता।

५. वाणी की चौकीदारी करे, मन को संयत रखे और काया से कोई अकुशल कर्म न करे। इन तीन कर्मपथों की ठीक शुद्धि करे और फिर ऋषियों के बताये मार्ग का अनुसरण करे।

६ योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसंखयो
एतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च
तथ'त्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ।

५८ योग-प्रज्ञे अन्योन्याश्रिते

७ नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो
यम्हि झानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके ।

८ यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो
अथ'स्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ।

५९ समाधौ अन्तरायः

९ ददाति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो
तत्थ यो मङ्कु भवति परेसं पानभोजने
न सो दिवा वा रत्तिं वा समाधिमधिगच्छति ।

१० यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिमधिगच्छति ।

११ सलाभं नातिमञ्ञेय्य नाञ्ञेसं पिहयं चरे
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु समाधिं नाधिगच्छति ।

१२ अप्पलाभो पि चे भिक्खु सलाभं नातिमञ्ञाति
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं ।

६. योग से प्रज्ञा की वृद्धि होती है, अ-योग से प्रज्ञा का क्षय होता है। उत्कर्ष और अपकर्ष का यह द्विविध पथ जानकर जिस तरह प्रज्ञा बढ़े उस तरह अपने को लगाना चाहिए।

५८. योग-प्रज्ञे अन्योन्याश्रिते

७. जिसे प्रज्ञा नहीं होती, उसे ध्यान नहीं होता। जिसे ध्यान नहीं होता, उसे प्रज्ञा नहीं होती। जिसमें ज्ञान और ध्यान दोनों होते हैं, वही निर्वाण के समीप होता है।

८. जब दोनों धर्मों में ब्राह्मण पारंगत होता है, तभी उसके सब बन्धन अस्त होते हैं।

५९. समाधौ अन्तरायः

९. लोग अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार दान देते हैं। ऐसी हालत में दूसरों के खान-पान के विषय में जो अनुदार बनता है, उसका दिन या रात कभी (चित्त-) समाधान नहीं होता।

१०. जिसकी यह (अनुदारता) मूलसमेत उखड़ गयी और हमेशा के लिए कट गयी, उसीका दिन और रात सभी समय (चित्त-) समाधान होता है।

११. अपने लाभ की अवहेलना न करे। न दूसरे के लाभ की स्पृहा करे। दूसरे के लाभ की स्पृहा करनेवाले भिक्षु का (कभी चित्त-) समाधान नहीं होता।

१२. भिक्षु अपना लाभ अल्प होने पर भी यदि अपने लाभ की अवहेलना न करे, तभी उस अतन्द्रित और शुद्धाजीव (शुद्ध जीविकावाले) की देवता प्रशंसा करते हैं। ●

१२ : वितृष्णता

६० तृष्णा-श्रेणी

१ पियतो जायती सोको पियतो जायती भयं
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ।

२ पेमतो जायती सोको पेमतो जायती भयं
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ।

३ रतिया जायती सोको रतिया जायती भयं
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ।

४ कामतो जायती सोको कामतो जायती भयं
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ।

५ तण्हाय जायती सोको तण्हाय जायती भयं
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ।

६१ तृष्णा-बाधा

६ तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो व बाधितो
संयोजनसङ्गसत्ता दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ।

१२ : वितृष्णता

६०. तृष्णा-श्रेणी

१. प्रिय वस्तु के कारण शोक उत्पन्न होता है। प्रिय वस्तु के कारण भय उत्पन्न होता है। प्रिय (के मोह-बंधन) से जो सर्वथा मुक्त है, उसे शोक नहीं होता, फिर भय कहाँ से हो ?

२. प्रेम (अहंता-ममता) के कारण शोक उत्पन्न होता है। प्रेम के कारण भय उत्पन्न होता है। प्रेम (के जाल) से जो सर्वथा मुक्त है उसे शोक नहीं होता। फिर भय कहाँ से हो ?

३. रति (विषय-संग) के कारण शोक उत्पन्न होता है। रति के कारण भय उत्पन्न होता है। रति से जो सर्वथा मुक्त है, उसे शोक नहीं होता, फिर भय कहाँ से हो ?

४. काम (राग) के कारण शोक उत्पन्न होता है। काम के कारण भय उत्पन्न होता है। काम से जो सर्वथा मुक्त है, उसे शोक नहीं होता, फिर भय कहाँ से हो ?

५. तृष्णा (भोग-तृष्णा) के कारण शोक उत्पन्न होता है। तृष्णा के कारण भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से जो सर्वथा मुक्त है, उसे शोक नहीं होता, फिर भय कहाँ से हो ?

६१. तृष्णा-बाधा

६. तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते रहते हैं। संयोजनों में (आन्तरिक बन्धनों में) फँसे लोग बार-बार (जन्म-मरणरूप) चिरकाल तक दुःख पाते हैं।

७ तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो व बाधितो
तस्मा तसिणं विनोदये भिक्खु आकङ्खी विरागमत्तनो ।

६२ तृष्णा-वल्ली

८ मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय
सो प्लवति हुराहुरं फलमिच्छं व वनस्मि वानरो ।

९ यं एसा सहती जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवट्ठं व बीरणं ।

१० यो चेतं सहती जम्मि तण्हं लोके दुरच्चयं
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दू व पोक्खरा ।

११ तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो व बीरणं
मा वो नळं व सोतो व मारो भञ्जि पुनप्पुनं ।

१२ यथापि मूले अनुपद्दवे दळहे छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति
एवं पि तण्हानुसये अनूहते निब्बत्तती दुक्खमिदं पुनप्पुनं ।

७. तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते रहते हैं। इसलिए वैराग्य की आकांक्षा रखनेवाला भिक्षु तृष्णा को समूल काट डाले।

६२. तृष्णा-वल्ली

८. प्रमादशील मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता की भाँति (उसे चारों ओर से जकड़ती हुई) बढ़ती ही जाती है। फल के लोभ से बन्दर जिस तरह वन में (एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर) कूदता चला जाता है, उसी तरह वह (तृष्णा-वश जीव) (जन्म-जन्मान्तर में) भटकता रहता है।

९. यह प्रसक्तिरूप प्रबल तृष्णा जिसे जीत लेती है, उसका शोक वर्षा होने पर (दिन दूनी रात चौगुनी) पनपनेवाले खस (वीरण) तृण की भाँति बढ़ता ही जाता है।

१०. जो पुरुष इस दुष्पार और प्रबल तृष्णा को जीत लेता है उससे शोक कमल-पत्र से जल-बिन्दु की भाँति (उसे न छूते हुए) ढरक पड़ता है।

११. इसलिए यहाँ जितने भी इकट्ठा हुए हैं उन सबसे मैं कहता हूँ—तुम्हारा भला हो। खस का इच्छुक उसके तृण को जिस तरह समूल खोदता है, उसी तरह (इस) तृष्णा को जड़ से उखाड़ फेंको। प्रवाह जिस तरह देवनल (सरकंडे) को (उसका मूल कायम रखकर ऊपर-ऊपर से) बार-बार तोड़ता है उस तरह मार तुम्हें न तोड़े।

१२. जड़मूल दृढ़ और अक्षत छोड़ने पर ऊपर-ऊपर से काटा वृक्ष फिर से बढ़ता है, उसी तरह तृष्णा का कंद वैसे ही अनुच्छिन्न छोड़ने पर यह (जन्म-मरणरूप) दुःख फिर-फिर वापस आता है।

६३ तृष्णा-नदी

१३ यस्स छत्तिंसती सोता मनाप-स्सवना भुसा
वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं संकप्पा रागनिस्सिता।

१४ सवन्ति सब्बधी सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति
तं च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ।

१५ सरितानि सिनेहितानि च सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो
ते सातसिता सुखेसिनो ते वे जातिजरूपगा नरा।

१६ मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहिसि।

१७ नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी।

६४ तृष्णा-बन्धनम्

१८ यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति
तं पुग्गलमेथ पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति।

१९ न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं बब्बजं च
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा।

६३. तृष्णा-नदी

१३. जिसके छत्तीसों स्रोत (१८ धातु, बाह्य और अभ्यंतर भेद से ३६) मनपसंद पदार्थों की ओर बहते रहते हैं, उसके वे राग-जनित संकल्प-प्रवाह उसे दुर्दृष्टि की ओर ले जाते हैं।

१४. सभी ओर स्रोत बहते हैं। लता (सर्वत्र) फूट निकलती है। लता फूटी देख प्रज्ञा से उसकी जड़ काट डालो।

१५. तृष्णा के प्रवाह जीवों को बड़े स्नेहमय और मीठे लगते हैं। वे सुख के लोभी लोग ही जन्म-जरा के फेर में पड़ते हैं।

१६. (कर्म के) आरम्भ में, मध्य में और अन्त में (सर्वत्र तृष्णा को) छोड़ भव के पार हो जा। सर्वत्र (तृष्णा-) मुक्त मानस होने पर तू फिर से जन्म-जरा को प्राप्त नहीं होगा।

१७. राग के समान (दूसरी) आग नहीं। द्वेष के समान (दूसरा) ग्रह (पिशाच) नहीं। मोह के समान (दूसरा) जाल नहीं। और तृष्णा के समान (डुबा देनेवाली) नदी नहीं।

६४. तृष्णा-बन्धनम्

१८. जो छोटे-बड़े सांसारिक बन्धनों से छूट, एक बार वासना के जंगल से मुक्त होकर दुबारा वासना के (घोर) जंगल की ओर दौड़ता है, आओ उस मनुष्य को तो जरा देखो—मुक्त होकर फिर बन्धन की ओर ही दौड़ रहा है!

१९. लोहा, लकड़ी या रस्सी के बन्धन को बुद्धिमान् पुरुष कड़ा बन्धन नहीं समझते। (उनके विचार में तो कड़ा बंधन है) मणि-कुण्डल, पुत्र और स्त्री के प्रति इच्छा का होना।

२० एतं दळहं बन्धनमाहु धीरा ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं
एतं पि छेत्वान परिब्बजन्ति अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ।

२१ ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सयं कतं मक्कटको व जालं
एतं पि छेत्वान वजन्ति धीरा अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ।

२२ वितक्कपमथितस्स जन्तुनो तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो
भिय्यो तण्हा पवड्ढति एस खो दळहं करोति बन्धनं ।

२३ वितक्कूपसमे च यो रतो असुभं भावयति सदा सतो
एस खो व्यन्तिकाहिति एस छेच्छति मारबन्धनं ।

६५ वीत-तृष्ण:

२४ निट्ठंगतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो
अच्छिन्दि भवसल्लानि अन्तिमोऽयं समुस्सयो ।

२५ वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो
अक्खरानं संनिपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च
स वे अन्तिमसारीरो महापञ्ञो ति वुच्चति ।

२०. धीर पुरुष इसी मनोहर और शिथिल परन्तु दुष्प्रमोच बन्धन को ही दृढ़ बन्धन कहते हैं। निरिच्छ पुरुष इसको तोड़ व काम-सुख को छोड़कर प्रव्रजित होते हैं।

२१. विषयानुरक्त लोग (भव-) प्रवाह में फँस जाते हैं—जैसे मकड़ी अपने ही जाल में। निरिच्छ पुरुष इसको तोड़कर और सब दुःखों को छोड़कर प्रव्रजित होते हैं।

२२. जो संदेह में पड़ा हुआ है, तीव्र रागयुक्त है और शुभानुदर्शी है, उसकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती है और वह अपना बन्धन दृढ़ ही करता जाता है।

२३. वितर्क के शान्त करने में ही जो निरत है, जो स्मृतिमान् होकर सदा (देह और देहानुगत विषयों में) अशुभ भावना करता है, वही इसका अन्त लायेगा, वही मार के बन्धन को तोड़ पायेगा।

६५. वीत-तृष्णः

२४. जो निष्ठा प्राप्त कर चुका है, जो किसीको त्रास भय नहीं पहुँचाता, जो तृष्णा-त्यागी है, जो निष्कलंक है, जिसने भव-शल्यों (संसार के बंधनों) को उखाड़ा है, उसीका यह देह अन्तिम है।

२५. जिसने तृष्णा त्याग दी है, जो केवल अपरिग्रही है, जो निरुक्ति और पद—अर्थ और शब्द—दोनों का जानकार है, जो अक्षरों का सन्निपात और पौर्वापर्य—शब्दों का मूल धातु, प्रत्यय और उपसर्ग आदि अर्थात् व्युत्पत्ति व पदसिद्धि—जानता है उसीका यह देह अन्तिम है और वही महाप्राज्ञ कहलाता है। ●

निष्ठा

३ वीक्षणं बुद्ध-बौद्धानां
सद्-धर्मस्य च लक्षणम्।
पण्डितस्य च भिक्षोश् चा-
प्यर्हतो ब्राह्मणस्य च॥

१३ : बुद्ध-बौद्धाः

६६ बुद्धस्य साक्षात्कारः

१ अनेकजातिसंसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ।

२ गहकारक दिट्ठो 'सि पुन गेहं न काहसि
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखतं
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ।

६७ बुद्धोद्गारः

३ सब्बाभिभू सब्बविदू 'हमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो
सब्बंजहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ।

६८ बुद्धो विनायकः

४ यस्स जितं नावजीयति जितमस्स नो याति कोचि लोके
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ।

१३ : बुद्ध-बौद्ध

६६. बुद्धस्य साक्षात्कारः

१. (देहरूप कारा-) गृह बनानेवाले को खोजता हुआ मैं अनेक जन्मों (और मरणों) की परंपरा में अविश्रांत दौड़ता रहा हूँ। (सचमुच) वार-बार जन्म पाना दुःखरूप है।

२. हे गृहकार, (अब) तुम दीख गये हो। अब फिर से (कारा-) गृह न बना सकोगे। तुम्हारे सभी बाँस टूट गये हैं और तुम्हारा गृह-कूट—घर का शीर्ष—भी बिखर गया है। संस्काररहित चित्त से तृष्णा का क्षय हो गया है।

६७. बुद्धोद्गारः

३. मैं सबको मात देनेवाला सर्वज्ञ हूँ। मैं सब कुछ करके उन (के कर्म-फलों से, उनके पाप-पुण्य) से, अलिप्त हूँ। सब परिग्रह त्यागकर और उनकी तृष्णा का क्षय करके मैं सर्वथा मुक्त हुआ हूँ। इस सबका कारण मैं ही हूँ यह जानते-पहचानते हुए, मैं किसकी ओर अंगुलि-निर्देश करूँ?

६८. बुद्धो विनायकः

४. जिसका जीता (बुद्धपद) दूसरा कोई नहीं जीत सकता और जिसके जीते (बुद्धपद) को दूसरा कोई नहीं पहुँच सकता, उस अनन्त-गोचर (परम ज्ञानी) और अपद (सर्वव्यापक और सार्वकालिक) बुद्ध को आप किस पन्थ से ले जा सकोगे?

५ यस्स जालिनी विसत्तिका तण्हा नत्थि कुहिंचि नेतवे
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ।

६ दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा
संनद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो
अथ सब्बमहोरत्तं बुद्धो तपति तेजसा ।

६९ बुद्ध-जन्म सुदुर्लभम्

७ ये झानपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे रता
देवा पि तेसं पिहयन्ति संबुद्धानं सतीमतं ।

८ किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चान जीवितं
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानमुप्पादो ।

९ दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति
यत्थ सो जायति धीरो तं कुलं सुखमेधति ।

७० संबुद्ध-श्रावकः

१० न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति
अप्पस्सादा दुक्खा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो—

५. अपने जाल में सब जीवों को फँसानेवाली तृष्णा जिसे कहीं भी नहीं डिगा सकती, उस अनंत-गोचर (सर्वज्ञ) और अपद (सर्वव्यापक) बुद्ध को आप किस पन्थ से ले जा सकोगे ?

६. सूर्य (केवल) दिन में तपता है, चन्द्रमा (केवल) रात में चमकता है । क्षत्रिय कवच बाँधकर (केवल युद्ध में) तपता है, ध्यानस्थ होकर ब्राह्मण (केवल वन में) तपता है। परन्तु बुद्ध अपने (ज्ञान-) तेज से दिन-रात तपता है ।

६९. बुद्ध जन्म सुदुर्लभम्

७. जो पुरुष ध्यान में निरत हैं और निष्काम कर्म द्वारा शांति प्राप्त करने में लगे हैं, उन स्मृतिमान् (सचेत) और सम्यक् बुद्धों की स्पृहा देवता भी करते हैं ।

८. मनुष्य-योनि में जन्म पाना दुर्लभ है । मनुष्य-जीवन दुर्लभ है । और (उसमें) सद्धर्म का श्रवण तो और दुर्लभ है। बुद्धों (परमज्ञानियों) का जन्म (उनकी संगति का लाभ तो नितान्त) दुर्लभ है ।

९. (कुलीन) पुरुष-श्रेष्ठ दुर्लभ है । वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता । जहाँ होता है, उस कुल में सुख बढ़ता है ।

७०. संबुद्ध-श्रावक

१०. कार्षापण (रुपये) की वृष्टि होने पर भी मनुष्य के काम-भोगों की तृप्ति कभी नहीं होती । (इस तरह अतृप्य ही नहीं) काम-भोग अल्पस्वाद और बहुदुःख भी हैं ।

११ अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति
तण्हक्खयरतो होति सम्मा-संबुद्ध-सावको ।

१२ यथा संकारधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे
पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं ।

१३ एवं संकारभूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने
अतिरोचति पञ्ञाय सम्मा-संबुद्ध-सावको ।

७१ गौतम-श्रावका:

१४ सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ।

१५ सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ।

१६ सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं संघगता सति ।

१७ सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ।

१८ सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ।

१९ सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ।

११. यह खूब समझता हुआ प्रज्ञावान् पुरुष दिव्य काम-भोगों में भी रस नहीं लेता; बल्कि सम्यक् संबुद्ध (बुद्ध) का श्रावक (अनुयायी) तृष्णा का क्षय करने में ही लगा रहता है ।

१२. (जैसे) राज-पथ के किनारे फेंके गये कूड़े-करकट के ढेर पर पुण्यगंध और मनोरम पद्म खिलता है।

१३. (वैसे ही) सामान्य जनों के बीच (कूड़े-करकट के ढेर पर) सम्यक् संबुद्ध का श्रावक अपनी प्रज्ञा से प्रकाशमान होता है ।

७१. गौतम-श्रावकाः

१४. दिन और रात जिनकी स्मृति सदा बुद्ध में होती है, वे गौतम-श्रावक सदा सुप्रबोध से प्रबोधित होते रहते हैं।

१५. दिन और रात जिनकी स्मृति सदा धर्म में होती है, वे गौतम-श्रावक सदा सुप्रबोध से प्रबोधित होते रहते हैं ।

१६. दिन और रात जिनकी स्मृति सदा संघ में होती है, वे गौतम-श्रावक सदा सुप्रबोध से प्रबोधित होते रहते हैं।

१७. दिन और रात जिनकी स्मृति सदा काय (देह) में रहती है वे गौतम-श्रावक सदा सुप्रबोध से प्रबोधित होते रहते हैं।

१८. दिन और रात जिनका मन सदा अहिंसा में लीन रहता है, वे गौतम-श्रावक सदा सुप्रबोध से प्रबोधित होते रहते हैं।

१९. दिन और रात जिनका मन सदा भावना में लगा है, वे गौतम के श्रावक सदा सुप्रबोध से प्रबोधित होते रहते हैं।

१४ : सद्धर्मः

७२ बुद्धानां शासनम्

१ सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।

२ खन्ती परमं तपो तितिक्खा निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा
न हि पब्बजितो परूपघाती समणो होति परं विहेठयन्तो ।

३ अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मि पन्तं च सयनासनं
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं ।

७३ आर्य-सत्यानि, शरण-त्रयं च

४ बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ।

५ नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ।

१४ : सद्धर्म

७२. बुद्धानां शासनम्

१. (कायिक वाचिक मानसिक) सभी पाप (-कर्मों) का न करना, सभी कुशल (-कर्मों) का करना और अपने चित्त का शोधन करते रहना—यही है बद्धों की शिक्षा।

२. तितिक्षा (शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहना) परम तप है, क्षान्ति (दुर्वचन, निन्दा, अपमान सहना) परम तप है। बुद्ध (ज्ञानी) कहते हैं कि निर्वाण ही परमपद है। प्रव्रजित होने मात्र से कोई जीव-हिंसक या परपीड़क श्रमण नहीं होता।

३. परनिन्दा न करना, परघात न करना, (भिक्षुओं के लिए बने) प्रातिमोक्ष नियमों का परिपालन करना, परिमित भोजन करना, एकान्त सेवन (अर्थात् एकान्त में ही उठना-बैठना, सोना) और अधिचित्त (चित्त को योग में लगाना) का अभ्यास करना—यही बुद्धों का शासन है।

७३. आर्य-सत्यानि, शरण-त्रयं च

४. भयभीत मनुष्य पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष और चैत्य (वेदी) आदि का आश्रय लेता है।

५. परन्तु यह आश्रय न तो सुरक्षित है, न उत्तम है, क्योंकि इसकी शरण से मनुष्य दुःखों से मुक्त नहीं होता।

६ यो च बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति

७ दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं
अरियं च'ट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं।

८ एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति।

९ सुखो बुद्धानमुप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो।

७४ दीक्षा

१० मग्गान'ट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानं च चक्खुमा।

११ एसो व मग्गो नत्थ'ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया
एतम्हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं।

१२ एतम्हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्स'न्तं करिस्सथ
अक्खातो वे मया मग्गो अञ्ञाय सल्लकन्तनं।

६. बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाकर सम्यक् प्रज्ञा से जिसने चार आर्यसत्यों को देख लिया

७. दुःख, दुःख का मूल, दुःख का अंत और दुःखान्त (निर्वाण) को पहुँचानेवाला आर्य अष्टांगिक मार्ग*–देख लिया (उसीको सच्चा शरण प्राप्त हुआ) ।

८. यही शरण सुरक्षित है, यही शरण उत्तम है । क्योंकि इसीके शरण में आकर मनुष्य सब दुःखों से मुक्त होता है ।

९. बुद्धों का जन्म लेना सुखकर है । सच्चे धर्म का उपदेश सुखकर है । संघ की समग्रता सुखकर है । समग्रतायुक्त पुरुषों का तप सुखकर है ।

७४. श्रेष्ठो मार्गः

१०. सब मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है । सत्यों में चार (आर्य सत्यरूप) पद श्रेष्ठ हैं । सब धर्मों में, आचारों में वैराग्य श्रेष्ठ है । मनुष्यों में चक्षुष्मान् (ज्ञान - चक्षु बुद्ध) श्रेष्ठ है ।

११. यह दर्शन की विशुद्धि का मार्ग है । इसके अलावा दूसरा मार्ग नहीं । (भिक्षुओ !) तुम इस पर चलो । यह मार को मूर्च्छित करता है ।

१२. इस पर चलकर तुम दुःख का अन्त लाओगे । इसको शल्य-निकृन्तन–दुःखरूप शल्य को उखाड़नेवाला–जान मैंने यह मार्ग बतलाया है ।

---

* आर्य-अष्टांगिक मार्ग है : सम्यक् धारणा, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् उद्योग, सम्यक् स्मृति और सम्यक् ध्यान ।

१३ तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ।

१४ पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं ।

७५ भावना

१५ सब्बे संखारा अनिच्चा ति यदा पञ्ञाय पस्सति
अथ निब्बिन्दती दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ।

१६ सब्बे संखारा दुक्खा ति यदा पञ्ञाय पस्सति
अथ निब्बिन्दती दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ।

१७ सब्बे धम्मा अनत्ता ति यदा पञ्ञाय पस्सति
अथ निब्बिन्दती दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ।

७६ निर्वाण-गमनो मार्गः

१८ वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायते भयं
छेत्वा वनं च वनथं च निब्बना होथ भिक्खवो ।

१३. (मार्ग) बतानेवाला तथागत है, लेकिन चलना तो तुम्हें ही है। इस मार्ग पर चलनेवाले ध्यान-परायण पुरुष मार के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

१४. पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य से, स्वर्ग की प्राप्ति से, बल्कि सभी लोकों का अधिपति बनने से भी स्रोतापत्ति* का फल श्रेष्ठ है।

७५. विशोधनः

१५. सब 'संस्कार' (पदार्थ) अनित्य हैं, यह (तथ्य) जब मनुष्य प्रज्ञा से देख लेता है, तब दुःखों से निर्वेद (वैराग्य) पाता है। यही विशुद्धि का मार्ग है।

१६. सब 'संस्कार' (पदार्थ) दुःखरूप हैं, यह (तथ्य) जब मनुष्य प्रज्ञा से देख लता है, तब दुःखों से निर्वेद पाता है। यही विशुद्धि का मार्ग है।

१७. सब धर्म अनात्म हैं, यह (तथ्य) जब मनुष्य प्रज्ञा से देख लेता है, तब दुःखों से निर्वेद पाता है। यही विशुद्धि का मार्ग है।

७६. निर्वाण-गमनः

१८. वन (कामना) को काटो, वृक्ष को नहीं। वन (कामना) से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ी को—छोटी-बड़ी सभी कामनाओं को—काटकर हे भिक्षुओ, निर्वन (निष्काम) हो जाओ।

---

* निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ होनेवाला व्यक्ति फिर उससे भ्रष्ट नहीं हो सकता। उसे स्रोत-आपन्न (= धार में पड़ा हुआ) कहते हैं। इसी पद की प्राप्ति को स्रोतापत्ति-फल कहा जाता है।

१९ यावं हि वनथो न छिज्जति अणु-मत्तो पि नरस्स नारिसु
पटिबद्धमनो व ताव सो वच्छो खीरपको व मातरि ।

२० उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं ।

२१ इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हिसु
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ।

२२ तं पुत्तपसुसंमत्तं व्यासत्तमनसं नरं
सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति ।

२३ न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता ।

२४ एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो
निब्बानगमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये ।

१९. जब तक नर की नारी के प्रति कामना पूरी-की-पूरी नहीं कट जाती, अल्प भी शेष रह जाती है, तब तक स्तन-पायी शिशु जिस तरह माता में बँधा हुआ रहता है, उसी तरह पुरुष का मन (स्त्री में) बँधा रहता है।

२०. शरद् ऋतु में खिले कुमुद को मनुष्य जिस तरह हाथ से सहज काट डालता है, उसी तरह अपने विषय में जो स्नेह है उसे काट डाल। (निष्काम जीवन के) शान्ति-मार्ग को बढ़ाता जा। सुगत (बुद्ध) ने निर्वाण ही (लक्ष्य) बताया है।

२१. यहाँ वर्षा ऋतु में बसूँगा, यहाँ हेमन्त में और यहाँ ग्रीष्म में (बसूँगा)। इस तरह मूर्ख सोचता रहता है। अन्तराय (विघ्न को) नहीं बूझता।

२२. सोये गाँव को जिस तरह (अचानक) पानी की बाढ़ बहा ले जाती है, उसी तरह मन से पुत्र और पशुओं में पूरी तरह उलझे प्रमत्त मनुष्य की मृत्यु ले जाती है।

२३. मनुष्य को जब मृत्यु दबोचती है तब उसकी रक्षा न पुत्र कर सकता है, न पिता, न बन्धु-बान्धव। (वास्तव में किसी भी) बन्धु में रक्षा की क्षमता नहीं होती।

२४. यह सब समझकर प्रज्ञावान् और शीलसम्पन्न पुरुष को निर्वाण को पहुँचानेवाले मार्ग की खोज में तुरन्त चल देना चाहिए। ●

१५ : पण्डितः

७७ पण्डित-लक्षणम्

१ धम्मपीति सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो।

२ उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पण्डिता।

३ सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता।

४ यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो
एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता।

५ सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति न कामकामा लपयन्ति सन्तो
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ।

६ न अत्तहेतु न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
स सीलवा पञ्ञावा धम्मिको सिया।

१५ : पण्डित

७७. पण्डित-लक्षणम्

१. धर्म में आनन्द माननेवाला पुरुष अत्यन्त प्रसन्नचित्त से सुख-पूर्वक सोता है (निश्चिन्त जीवन जीता है)। पण्डितजन सदा आर्योपदिष्ट धर्म में रत रहते हैं।

२. बागवान जल को (इच्छानुरूप) मोड़ते हैं। बाणकार बाण को मोड़ते हैं। बढ़ई लकड़ी को आकार देते हैं। पण्डितजन अपने को ही मोड़ते हैं—सन्मार्ग में लगाते हैं।

३. ठोस पहाड़ जिस तरह वायु से नहीं डिगता, उसी तरह पण्डित-जन निन्दा और प्रशंसा से नहीं डिगते।

४. गहरा जलाशय जिस प्रकार स्वच्छ निर्मल होता है, उसी प्रकार धर्मश्रवण कर पण्डितजन सुप्रसन्न होते हैं।

५. सत्पुरुष सर्वत्र जाते हैं, परन्तु वे सांसारिक बातें नहीं करते। सुख हो या दुःख, पण्डितजन हर्ष-विषाद नहीं दरशाते।

६. जो न अपने लिए और न दूसरे के ही लिए पुत्र की, धन की या राज्य की इच्छा करे। अधर्म के द्वारा अपनी उन्नति न चाहे। वही शीलवान्, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।

७८ बाल-पण्डितौ

७ यो बालो मञ्ञति बाल्यं पण्डितो वा पि तेन सो
बालो च पण्डितमानी स वे बालो ति वुच्चति ।

७९ विज्ञ अेव विजानाति

८ यावजीवं पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ।

९ मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति
खिप्पं धम्मं विजानाति जिव्हा सूपरसं यथा ।

८० पण्डितादयः

१० न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो ति पवुच्चति ।

११ न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति
यो च अप्पं पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं न प्पमज्जति ।

१२ न तेन होति धम्मट्ठो येन'त्थं सहसा नये
यो च अत्थं अनत्थं च उभो निच्छेय्य पण्डितो-

७८. बाल-पण्डितौ

७. जो मूर्ख अपनी मूर्खता को समझता है उसीके कारण वह पण्डित है। परन्तु मूर्ख होकर जो अपने को पण्डित मान बैठता है, वही वास्तव में मूर्ख है।

७९. विज्ञ अेव विजानाति

८. मूर्ख जीवनभर पण्डित की संगति में रहे तो भी उसे धर्म का बोध नहीं होता, जैसे कडछी को सूप (दाल आदि के रस) के स्वाद का (ज्ञान नहीं होता)।

९. परन्तु विज्ञ पुरुष मुहूर्तभर ही पण्डितों की संगति में रहे तो उसे धर्म का बोध तत्काल हो जाता है, जैसे जिह्वा को सूप के स्वाद का ज्ञान।

८०. पण्डितादयः

१०. बहुत भाषण करने से कोई पण्डित नहीं होता। क्षेम, अवैर और अभय से युक्त ही पण्डित कहा जाता है।

११. बहुत भाषण करने से कोई धर्मधारी (धार्मिक ग्रंथों का ज्ञाता) नहीं होता। जो (धर्म का) अल्प श्रवण करने पर भी उसे आचरण में उतारता है, वही धर्म के विषय में प्रमाद न करनेवाला धर्मधारी होता है।

१२. सहसा धर्मनिर्णय करने से कोई धर्मस्थ नहीं होता। जो अर्थ और अनर्थ–न्याय और अन्याय–दोनों का निर्णय करता है वह पंडित है।

१३ असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो ति पवुच्चति।

१४ न तेन थेरो सो होति येन'स्स फलितं सिरो
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति।

१५ यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति।

१६ न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो।

१७ यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो ति वुच्चति।

८१ पार-गामिनः

१८ अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति।

१९ ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं।

१३. जो मनुष्य विचार, धर्म और समत्व से लोगों का नेतृत्व करता है, वही धर्म से सुगुप्त मेधावी पुरुष धर्मस्थ (अर्थात् न्यायाधीश) कहलाता है।

१४. सिर के बाल सफेद होने से कोई स्थविर (वृद्ध) नहीं होता। उसकी आयु मात्र पक गयी है, वह वृथाजीर्ण कहलाता है।

१५. जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है वही वान्तमल (विगतमल) धीर पुरुष स्थविर कहा जाता है।

१६. ईर्ष्या और मत्सर से युक्त शठ पुरुष केवल वचन-चातुरी के या देह-सौष्ठव के कारण साधु नहीं होता।

१७. जिसने यह (ईर्ष्या, मत्सर आदि अन्तर का सारा मल) काट डाला है, मूलसमेत उखाड़ डाला है, वही वान्त-दोष (विगत-दोष) मेधावी पुरुष साधु कहलाता है।

८१. पार-गामिनः

१८. (भवसागर के) उस पार (निर्वाण को) जानेवाले व्यक्ति मनुष्यों में कम ही मिलते हैं। शेष बची यह सारी जनता (संसार-सागर के) किनारे ही किनारे दौड़नेवाली है।

१९. (सम्यग्दृष्टि, सम्यक्कर्म, सम्यक्प्रज्ञा आदि) सम्यग्विशिष्ट आर्य-अष्टांगिक मार्गरूप धर्म का जो आचरण करते हैं, वे ही पुरुष दुस्तर मृत्यु को पार कर (अमृत को) जाते हैं।

२० अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति
सकुन्तो जालमुत्तो व अप्पो सग्गाय गच्छति ।

२१ हंसादिच्चपथे यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहनं ।

२०. यह सारा लोक अन्धा बना है। देखनेवाला बिरला ही है। जाल से मुक्त हुए पक्षी की तरह स्वर्ग जानेवाला बिरला ही है।

२१. हंस आदित्यपथ से जाते हैं। ऋद्धिवान् (योगी) आकाश से जाते हैं। (पर ये दोनों भी खटते रहते हैं इसी लोक में।) परन्तु सदल मार को जीतकर धीर पुरुष इसी लोक से परे निर्वाण को ससम्मान पालकी में बैठाकर पहुँचाये जाते हैं। ●

१६ : भिक्षुः

८२ भिक्षोः साधना-क्रमः

१ यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ।

२ तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो
इन्द्रियगुत्ति संतुट्ठि पातिमोक्खे च संवरो ।

३ मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते
पटिसन्थारवुत्त्य'स्स आचारकुसलो सिया
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्स'न्तं करिस्सति ।

८३ भिक्षु-लक्षणम्

४ हत्थसंयतो पादसंयतो वाचाय संयतो संयतुत्तमो
अज्झत्तरतो समाहितो एको संतुसितो तमाहु भिक्खुं ।

५ सन्तकायो सन्तवाचो सन्तमनो सुसमाहितो
वन्तलोकामिसो भिक्खु उपसन्तो ति वुच्चति ।

१६ : भिक्षु

८२. भिक्षोः साधना-क्रमः

१. (भिक्षु) जैसे-जैसे स्कन्धों के उदय और अस्त पर विचार करता है, वैसे ही वैसे विज्ञानी पुरुषों का अमृत जो (धर्म में) प्रीति-प्रमोद है, वह उसे मिलता रहता है ।

२. जानकार भिक्षु का उपक्रम इस प्रकार होता है—इंद्रिय-निग्रह, संतोष और प्रातिमोक्ष नियमों का परिपालन । कल्याणकारी पवित्र आजीविकावाले और अतन्द्रित मित्रों की संगति करें ।

३. आतिथ्यशील और सदाचारी बनें । हे भिक्षो, इसी तरह तुम प्रमोद से ओतप्रोत होकर दुःख का अन्त (निर्वाण) पाओगे ।

८३. भिक्षु-लक्षणम्

४. जिसके हाथ-पैर और वाणी में संयम है—जिसके उठने-बैठने में, बोलने-चालने में और सभी क्रिया-कलापों में संयम है—अर्थात् जो बाह्यतः पूर्ण संयमी है तथा अध्यातम-रत, समाहित और संतुष्ट है—अर्थात् जो उतना ही आभ्यन्तर संयमी है—उसी एकाकी को भिक्षु कहते हैं ।

५. जिसकी काया, वाणी और मन शान्त है, अर्थात् जो पूर्ण समाधानयुक्त है तथा जिसने सभी लौकिक भोगों का (अन्तर से) त्याग कर दिया है, उसे उपशान्त भिक्षु कहते हैं ।

६ सब्बसो नामरूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं
असता च न सोचति स वे भिक्खू ति वुच्चति ।

७ पञ्च छिन्दे पञ्च जहे पञ्च चुत्तरि भावये
पञ्चसङ्गातिगो भिक्खु ओघतिण्णो ति वुच्चति ।

८४ मैत्री-विहारी

८ मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ।

९ पामोज्जबहुलो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ।

१० यो ह वे दहरो भिक्खु युञ्जति बुद्धसासने
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ।

६. जिसे किसी नाम-रूप में तनिक भी ममता-मोह नहीं है तथा उसके न होने पर जो शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है।

७. जो पाँच को छेदे, पाँच को छोड़े, पाँच की भावना करे और पाँच के संग को लाँघ जाय, उसी भिक्षु को कहते हैं ओघ-तीर्ण (जो बाढ़ को पार कर गया है)।

(१) छेद्य-पंचक : सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परा-मर्श, कामराग, रूपराग।
(२) हेय-पंचक : अरूपराग, प्रतिघ, मान, औद्धत्य, अविद्या।
(३) भाव्य-पंचक : श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा।
(४) उल्लंध्य-पंचक : राग, द्वेष, मोह, मान, मिथ्यादृष्टि।

८४. मैत्री-विहारी

८. मैत्री-भावना से विहार करता हुआ जो भिक्षु बुद्ध के उपदेश में प्रसन्न (श्रद्धावान्) रहता है, वह सभी संस्कारों का शमन करनेवाले और सुखरूप (निर्वाण-) शान्ति के पद को प्राप्त होता है।

९. (धर्मचर्या में) प्रमोद पाता हुआ जो भिक्षु बुद्ध के उपदेश में प्रसन्न रहता है, वह सभी संस्कारों का शमन करनेवाले और सुखरूप (निर्वाण-) शान्ति के पद को प्राप्त होता है।

१०. जो भिक्षु तरुण अवस्था से ही निज को बुद्ध-शासन में लगा देता है, वह मेघमुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है।

८५ भिक्षु-प्रबोधः

११ वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति
एवं रागं च दोसं च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ।

१२ सिञ्च भिक्खु इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति
छेत्वा रागं च दोसं च ततो निब्बानमेहिसि ।

१३ झाय भिक्खु मा च पमादो मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं
मा लोहगुळं गिळी पमत्तो मा कन्दि दुक्खमिदं ति डय्हमानो ।

१४ सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो
अमानुसी रती होति सम्मा धम्मं विपस्सतो ।

१५ धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु सद्धम्मा न परिहायति ।

८६ भिक्षोर् भय-स्थानम्

१६ कुसो यथा दुग्गहितो हत्थमेवानुकन्तति
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायुपकड्ढति ।

८५. भिक्षु-प्रबोधः

११. जैसे जूही अपने कुम्हलाये फूलों को छोड़ देती है वैसे ही भिक्षुओ! तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।

१२. हे भिक्षु! इस अपनी (जीवन-) नौका में से (मल-जल को) उलीचो। उलीचने पर वह तुम्हारे लिए हलकी हो जायगी। (अशेष) राग और द्वेष को उलीच देने पर तुम निर्वाण को प्राप्त हो जाओगे।

१३. हे भिक्षु! ध्यान में लग जाओ, प्रमाद न करो। काम-भोग में तुम्हारा चित्त न भटके। प्रमादवश तपे लोहे की गोली को न निगलो और न ही अन्दर से जलते हुए रो उठो कि 'हाय रे, यह दुःख (आ पड़ा) है।'

१४. शून्यागार में जाकर और चित्त शान्त कर समाधिस्थ बैठे भिक्षु को सम्यक्धर्म का साक्षात्कार करते हुए अलौकिक रति (दिव्य आनन्द) प्राप्त होती है।

१५. (श्रद्धा से) धर्म की शरण आया भिक्षु (भावना से) धर्म में रमता और (बुद्धि से) धर्म का निरंतर चिन्तन करता अर्थात् (सर्वात्मना) धर्म का अनुसरण करता हुआ सद्धर्म से (कभी) अलग नहीं पड़ता, च्युत नहीं होता।

८६. भिक्षोः भय-स्थानम्

१६. जैसे ठीक ढंग से न पकड़ने से कुश हाथ को ही काट देता है, वैसे श्रामण्य भी यदि सम्यक् ग्रहण न किया जाय तो वह (उस अव्यवस्थित श्रमण को) नरक में खींच ले जाता है।

१७ यं किंचि सिथिलं कम्मं संकिलिट्ठं च यं वतं
संकस्सरं ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलं।

१८ कयिरा चे कयिराथेनं दळ्हमेनं परक्कमे
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं।

८७ माधुकरी वृत्तिः

१९ यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनि चरे।

८८ काषाय-मर्यादा

२० अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति
अपेतो दमसच्चेन न सो कासावमरहति।

२१ यो च वन्तकसाव'स्स सीलेसु सुसमाहितो
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति।

१७. कर्म यदि कुछ शिथिल हो, व्रत यदि (राग-द्वेषादि-) क्लेश-दूषित हो, ब्रह्मचर्य (-पालन) यदि स्वेच्छया न हो, तो वह (कभी) महाफलदायी नहीं होता।

१८. जो भी करना है कसकर करे (अर्थात् पूरी दक्षता से व पूरे उत्साह से करे)। ढीला परिव्राजक बहुत धूल उड़ाता है।

८७. माधुकरी वृत्तिः

१९. जैसे भ्रमर पुष्प के वर्ण और गंध को बिना हानि पहुँचाये रस को लेकर (झट) चल देता है, वैसे ही मुनि ग्राम में भिक्षाटन करे।

८८. काषाय-मर्यादा

२०. बिना कषायों (मनोमलों) को हटाये जो काषायवस्त्र धारण करता है, वह इन्द्रिय-दमन और सत्य से रहित पुरुष काषायवस्त्र का (कतई) अधिकारी नहीं।

२१. जिसने अपने कषाय त्याग दिये हैं, जो शीलों में (सदाचारों में) सुप्रतिष्ठित है, जो इन्द्रिय-दमन और सत्य से संपन्न है, वही काषाय (वस्त्र) का अधिकारी है। ●

१७ : अर्हत

८९ अर्हल्-लक्षणम्

१ गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि
सब्बगन्थप्पहीनस्स परिळाहो न विज्जति ।

२ उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते
हंसा व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ।

३ येसं संनिचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो
आकासे व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ।

४ यस्सासवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो
आकासे व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नयं ।

५ यस्सिन्द्रियानि समथं गतानि अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता
पहीनमानस्स अनासवस्स देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो ।

१७ : अरहत्

८९. अर्हल्-लक्षणम्

१. जिसने मार्ग समाप्त कर लिया है, जो शोक-रहित तथा सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सारी ग्रन्थियाँ (संशय) छूट गयी हैं, उसे कोई संताप नहीं होता ।

२. स्मृतिमान् पुरुष (निर्वाण के लिए) उद्योग करते हैं । वे गृह में नहीं रमते । हंस जिस तरह डबरे छोड़ (मानसरोवर के लिए चल) देते हैं, उसी तरह वे सभी घर छोड़ (निर्वाण की ओर चल) देते हैं ।

३. जिनका कोई संग्रह नहीं, जिनका भोजन परिमित है, जिन्होंने शून्यरूप और अनिमित्तस्वरूप मोक्ष का साक्षात्कार कर लिया है, उनकी गति आकाश में पक्षियों के मार्ग के समान (अचिह्नित और अतएव) दुरनुगम्य है, दुरनुसरणीय है ।

४. जिसके आस्रव परिक्षीण हो गये हैं, आहार में जिसे आसक्ति नहीं, जिसने शून्यरूप और अनिमित्तस्वरूप मोक्ष का साक्षात्कार कर लिया है, उसका मार्ग आकाश में पक्षियों के मार्ग के समान (अचिह्नित और अतएव) दुरनुगम्य है, दुरनुसरणीय है ।

५. सारथि के घोड़े जैसे बहुत दान्त (विनीत) होते हैं, वैसे ही जिसकी इंद्रियाँ शान्त हैं, जिसके मान नहीं और न ही आस्रव हैं—ऐसे पुरुष की स्पृहा देवता भी करते हैं ।

६ पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो
रहदो व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो।

७ सन्तं तस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो ।

९० अर्हतो विहारः

८ गामे वा यदि वारञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं।

९ रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमती जनो
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो।

९१ श्रमणादयः

१० न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ।

११ यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति।

१२ बाहितपापो ति ब्राह्मणो समचरिया समणो ति वुच्चति
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितो ति वुच्चति।

६. जो पृथिवी के समान किसीका विरोध नहीं करता, जो इन्द्र-कील के समान अपने व्रतों में (निष्कंप दृढ़) है, जो अगाध जलाशय के समान प्रसन्न (कीचड़ से शून्य) है—ऐसे पुरुष को संसार नहीं होता (जन्म-मरण के फेरे नहीं होते)।

७. सम्यग्ज्ञान से विमुक्त (पुरुष का) उपशान्त मन शान्त होता है, उसकी वाणी शान्त होती है और उसका कर्म भी शान्त होता है।

९०. अर्हतो विहारः

८. ग्राम हो या अरण्य, नीची भूमि हो या ऊँची (पहाड़ी), जहाँ कहीं अर्हन्त विहार करते हैं, वही भूमि रमणीय है।

९. (कितने ही) रमणीय अरण्य हैं, लेकिन (कामकामी) सामान्य लोग वहाँ नहीं रमते। वीतराग पुरुष ही वहाँ रमते हैं, क्योंकि उन्हें कामभोगों की तलाश नहीं होती।

९१. श्रमणादयः

१०. व्रत और सत्यवाद से रहित कोई केवल मुण्डन करने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लाभ से पूर्ण—आन्तरिक आसक्ति और बाह्य परिग्रह से ग्रस्त-पुरुष कैसा श्रमण ?

११. जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा शमन कर देता है, वह उन पापों के शमन के कारण ही श्रमण कहलाता है।

१२. अपने पापों को बहा देता है, इसलिए वह ब्राह्मण है। समचर्या के कारण श्रमण कहलाता है। अपने मलों को देश-निकाला दे देने के कारण वह प्रव्रजित कहलाता है।

१३ न तेन भिक्खु सो होति यावता भिक्खते परे
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ।

१४ यो'ध पुञ्ञं च पापं च बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा
संखाय लोके चरति स वे भिक्खू ति वुच्चति ।

१५ न मोनेन मुनी होति मूळ्हरूपो अविद्दसु
यो च तुलं व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो-

१६ पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ।

१७ छन्दजातो अनक्खाते मनसा च फुटो सिया
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतो ति वुच्चति ।

९२ उत्तम: पुरुष:

१८ अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ।

१३. दूसरों से भिक्षा माँगता है, केवल इतने से ही कोई भिक्षु नहीं होता। (किसी वस्तु के प्रति) अपना स्वामित्व न रखने का व्रत लेने मात्र से कोई भिक्षु नहीं होता।

१४. जो पाप और पुण्य दोनों को बहाकर केवल ब्रह्मचर्य से रहता है (अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त कर विहरण करता है) वही भिक्षु कहलाता है।

१५. मौन धारण करने मात्र से कोई जड़मूढ़ पुरुष मुनि नहीं होता। जो प्रज्ञावान् मानो प्रज्ञा की तुला लेकर पाप-पुण्य को तौलता है और भारी पुण्य को ग्रहण कर

१६. हलके पाप को छोड़ देता है, वह इसी तौलने (मुनिता) के कारण मुनि होता है। दोनों लोगों को तौलता है, इसी कारण वह मुनि कहलाता है।

१७. अनाख्यात (निर्वाण) के विषय में जिसे छन्द (चसका) लगा है, जिसके मन ने उसे छू लिया है, काम-भोगों में जिसका चित्त अटका नहीं है, उसे कहते हैं ऊर्ध्वस्रोता।

९२. उत्तमः पुरुषः

१८. जो अश्रद्ध (साक्षात्कार के कारण जिसे कोई श्रद्धाविषय ही न रहा) है, जो अकृतज्ञ (अकृत जिसने जान लिया) है, जो सन्धिच्छेदक (बन्धनों को तोड़नेवाला) है, जो हतावकाश (जिसका पुनर्जन्म का अवसर समाप्त हुआ) है और जो वान्ताश (सभी आशाएँ जिसने वमन करके छोड़ दी) है वही उत्तम पुरुष है।*

* (इसमें अश्रद्ध आदि सभी विशेषण श्लिष्ट हैं। उनका वाच्य अर्थ दोष-सूचक है, लेकिन लक्ष्य अर्थ गुणसूचक है। अधम के विशेषण उत्तम को लगाये हैं।)

१८ : ब्राह्मणः

९३ ब्राह्मणो नाम अनघः

१ मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ।

२ मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ।

९४ क्षमावान्

३ न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो
धी ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धी य'स्स मुञ्चति ।

१८ : ब्राह्मण

९३. ब्राह्मणो नाम अनघः

१. माता, पिता, दो क्षत्रिय राजा तथा अनुचरों समेत समूचे राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है। [तृष्णा, अहंकार, शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि, आसवितयों समेत समस्त संसार (रागसमेत पाँच उपादान स्कंध) पर माता आदि पदों का रूपक किया गया है।]

२. माता, पिता, दो क्षत्रिय राजा और व्याघ्रपंचम को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है। [रूपक पूर्वश्लोकवत्; व्याघ्र-पंचम=जिसमें व्याघ्र अर्थात् संशय पाँचवाँ है वे, (१) काम-छंद, (२) व्यापाद, (३) स्त्यानमृद्ध, (४) औद्धत्य-कौकृत्य और (५) विचिकित्सा, ये पाँच 'नीवरण'। संशय को पाली में वेय्यग्घ भी कहते हैं। इसलिए इन पाँचों ज्ञानावरणों को वेय्यग्घ-पंचम कहा जाता है। 'मारकर भी निष्पाप' यह चमत्कृति है। वास्तव में कहा गया है कि मनुष्य बाह्य लोगों को नहीं, आभ्यंतर विकारों को मारकर ही निष्पाप होता है।]

९४. क्षमावान्

३. ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिए। और ब्राह्मण को उस (प्रहारकर्ता) पर कोप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण पर प्रहार करनेवाले को धिक्कार है। जो (ब्राह्मण) उस (प्रहारकर्ता) पर कोप करे उसे भी उससे भी (अधिक) धिक्कार है।

४ न ब्राह्मणस्सेतदकिंचि सेय्यो यदा निसेधो मनसो पियेहि
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति ततो ततो सम्मति मेव दुक्खं ।

५ यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

९५ अविरुद्धः

६ अक्कोसं वधबन्धं च अदुट्ठो यो तितिक्खति
खन्तीबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

७ अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सदं
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

८ अकक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये
याय नाभिसजे किंचि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

९ निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

१० अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

४. ब्राह्मण के लिए यह कम श्रेयस्कर नहीं कि वह प्रिय पदार्थों से अपने मन को रोक ले। जैसे-जैसे मनुष्य हिंसा से निवृत्त होता है, वैसे-वैसे दुःख का शमन होता जाता है।

५. जिसने काया, वाणी और मन से (कभी कोई) दुष्कृत्य नहीं किया है, (अर्थात्) जो इन तीनों (कर्मपथों) में संवृत (सुरक्षित) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९५. अविरुद्ध

६. जो मन में विकार लाये बिना आक्रोश, बन्धन तथा वध तक (चुपचाप) सह लेता है, उस क्षान्तिबल के सेनानी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

७. जो क्रोधरहित है, व्रती है, शीलवान् है, वितृष्ण है और दान्त है तथा जिसका यह देह अन्तिम है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८. जिससे कोई न सहमे इस तरह जो अकर्कश, सार्थक तथा सत्यवाणी बोलता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९. जो चर तथा अचर प्राणियों के प्रति दण्ड का परित्याग कर किसीको न (स्वयं) मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१०. विरोधियों के बीच अविरोधी, दण्डधारियों के बीच (दण्ड) रहित तथा परिग्रहियों के बीच जो अपरिग्रही है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९६ शुचिः

११ न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ।

१२ किं ते जटाहि दुम्मेध किं ते अजिनसाटिया
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ।

१३ पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं
एकं वनस्मि झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

१४ न नग्गचरिया न जटा न पङ्का नानासका थण्डिलसायिका वा
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ।

१५ अलंकतो चे पि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु ।

९७ अनादानः

१६ यो'ध दीघं वा रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं
लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

९६. शुचिः

११. न जन्म के कारण, न गोत्र के कारण, न जटाधारण के कारण ही कोई ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य है, जिसमें धर्म है, वही पवित्र है, और वही ब्राह्मण है।

१२. हे दुर्बुद्धि ! तुम्हारी जटाओं से क्या लाभ ? तुम्हारे मृगचर्म पहनने से भी क्या लाभ ? तुम्हारा अन्तर तो (विकारों से) भरा है और बाहर को ही तुम धो रहे हो।

१३. जो फटे चीथड़ों को धारण करता है, दुबला-पतला है, जिसके सारे शरीर पर नसों का जाल फैला है, अकेला वन में ध्यान-मग्न है, ऐसे प्राणी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१४. जिसकी आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हुई हैं, उस मनुष्य की शुद्धि न उसके नग्न रहने से, न जटाधारण से, न पंकलेप से, न अनशन से, न भूमिशयन से, न धूलिस्नान से और न ही उकड़ूँ बैठने से हो सकती है।

१५. (सभ्य वेशभूषा से) अलंकृत रहने पर भी यदि कोई शम (धर्म) का आचरण करता है, अर्थात् जो शान्त, दान्त, नियत और ब्रह्मचारी है तथा प्राणिमात्र के प्रति दण्ड का जिसने परित्याग कर रखा है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही भिक्षु।

९७. अनादान

१६. जो इस लोक में छोटी या बड़ी, हलकी या भारी, भली या बुरी वस्तु, जो न दी गयी हो, लेता नहीं, अर्थात् जो अनादान है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१७ न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं
भोवादी नाम सो होति स चे होति सकिंचनो
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

१८ यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किंचनं
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

१९ यस्सालया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथंकथी
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

२० यो'मं पळिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

९८ अनासक्त:

२१ आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

२२ यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति
वीतद्दरं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

२३ सब्बसंयोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति
सङ्गातिगं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

१७. केवल ब्राह्मण माता-पिता से जनमे को मैं ब्राह्मण नहीं कहता। वह संग्रही है। लोग उसे 'भो' (जी) कहकर पुकारेंगे। (परन्तु वस्तुतः) जो अकिंचन (पूर्व संग्रहरहित) है और अनादान (नवसंग्रह का अकर्ता) है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१८. न पूर्व, न पश्चात्, न मध्य में भी जिसका कोई परिग्रह है, उस अकिंचन और अनादान पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१९. जिसे कहीं तृष्णारूप आलय नहीं है, जो (तत्त्व) जानकर निःसन्देह हुआ है और जिसने अमृत में डुबकी लगायी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

२०. यह जो संसारकारण मोहरूप दुर्गम विमार्ग है उसे जो पार कर (परम गन्तव्य को) पहुँचा है, उस उत्तीर्ण, ध्यानपरायण, निष्कंप, निःसंशय और तृष्णा का उपादान छोड़कर निर्वृत अर्थात् आत्मसंतुष्ट हुए पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९८. अनासक्तः

२१. जिसे न इस लोक की और न परलोक की ही अभिलाषा है, उस विरक्त और अनासक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

२२. जिसे न तो पार है, न अपार है, न पारापार ही है, उस निर्भय और अनासक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।
(पार = परलोक, अपार = इहलोक, पारापार = लोकैषणा)

२३. जो सभी बन्धनों को काटकर अकुतोभय (भयरहित) हो जाता है, उस निःसंग और अनासक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

२४ छेत्वा नन्धिं वरत्तं च सन्दानं सहनुक्कमं
उक्खित्तपळिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

२५ योध पुञ्ञं च पापं च उभो सङ्गं उपच्चगा
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

२६ हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

२७ यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो
पन्नभारं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

९९ क्षीण-भवः

२८ चन्दं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

२९ योध कामे पहत्वान अनागारो परिब्बजे
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३० योध तण्हं पहत्वान अनागारो परिब्बजे
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

२४. जिसने क्रमशः रस्सी, वरत्रा (चमड़े की रस्सी) और शृंखला (लोहे की साँकल) को काटकर खूँटे को भी उखाड़ फेंका है, उस बुद्ध (प्रबुद्ध गोतम = जाग्रत् वृषभ) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(रस्सी, वरत्रा, शृंखला = अणु-स्थूलबन्धन, खूँटा = अविद्या)

२५. जो इस जन्म में ही पाप और पुण्य तथा उनकी आसक्ति को पार कर गया, उस विगतशोक, विगतरज और शुद्ध पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

२६. जो मर्त्य-बन्धनों को छोड़ दिव्य बन्धनों को भी छोड़ गया, उस सभी बन्धनों से विमुक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

२७. जो इसी जन्म में अपने दुःखमात्र का क्षय जान लेता है, उस दुःखभार को उतार फेंक (सब बन्धनों से) विमुक्त हुए पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९९. क्षीण-भवः

२८. जो चन्द्रमा के समान निर्मल और शुद्ध है, जो अकर्दम (जलाशय के समान) प्रसन्न है, उस प्रक्षीण-नन्दीभव (जिसका नन्दीभव समाप्त हुआ है ऐसे) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

२९. जो इस जन्म में (सब) काम-भोगों को छोड़ अनिकेत हो परिव्राजक बन जाता है उस प्रक्षीण-कामभव (जिसका कामभव समाप्त हो गया है) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३०. जो इस जन्म में तृष्णा को छोड़ अनिकेत हो परिव्राजक बन जाता है, उस प्रक्षीण-तृष्णाभव (जिसका तृष्णाभव समाप्त हो गया है) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३१ असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३२ वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गे रिव सासपो
यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३३ यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३४ छिन्द सोतं परक्कम्म कामे पनुद ब्राह्मण
संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञू सि ब्राह्मण ।

१०० प्राज्ञः कृतकृत्यश् च

३५ गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं
उत्तमत्थमनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३६ झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं
उत्तमत्थमनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३७ हित्वा रतिं च अरतिं च सीतिभूतं निरूपधिं
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३१. जिसका गृहस्थों और अगृहस्थों दोनों ही से संसर्ग नहीं, जो अनिकेत घूमता है तथा जो अल्पेच्छ है (जिसकी आवश्यकताएँ बहुत ही कम हैं) उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३२. कमल-पत्र पर जल और सूई की नोक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३३. सूई की नोक पर से सरसों की भाँति जिससे राग-द्वेष, मान और डाह आदि (अछूते) छूट गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३४. हे ब्राह्मण ! पराक्रम कर तृष्णा के प्रवाह को काट दो और कामनाओं को खदेड़ दो। हे ब्राह्मण ! (कृत) 'संस्कारों' के क्षय को जानकर तुम अकृत-ज्ञ हो जाओगे— अकृत निर्वाण का साक्षात्कार पा जाओगे।

१००. प्राज्ञः कृतकृत्यश् च

३५. जो गम्भीर प्रज्ञावान्, मेधावी, मार्ग-अमार्ग का ज्ञाता है तथा उत्तम अर्थ (=निर्वाण) को पहुँचा है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३६. जो ध्यानी, विगत-रज, अनारम्भ (आसनबद्ध), कृतकृत्य और अनास्रव (चित्तमलरहित) है तथा उत्तम अर्थ (निर्वाण) को पहुँचा है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३७. जो रति-अरति (उत्साह-अनुत्साह) को छोड़ शीतल हो चुका है तथा जिसे किसी प्रकार उपाधि-परिग्रह नहीं है, उस सभी (स्वर्गादि) लोकों को पदाक्रान्त करनेवाले वीर को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३८ चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिं च सब्बसो
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

३९ यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

४० उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

४१ पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायं च पस्सति
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।

●

३८. जो प्राणियों की गति तथा अगति को सम्पूर्ण जानता है, जो अनासक्त है, जो सुगति को प्राप्त है, उस बुद्ध (ज्ञानी) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३९. जिसकी गति (देहपात के अनन्तर की स्थिति) को न देव, न गन्धर्व न मनुष्य ही जानते हैं, उस क्षीणास्रव अर्हत् (राग आदि रहित) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०. जो ऋषभ, प्रवर, वीर, महर्षि, अकम्प्य, निष्णात और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१. जो अपने पूर्वजन्म जानता है, जिसने स्वर्ग और नरक दोनों गतियाँ देख ली हैं, जिसका यह (प्रारब्ध) जन्म क्षीण हो चुका है, जो अभिज्ञानिष्ठ है तथा जिसके सारे व्यवसाय समाप्त हो चुके हैं, उस (मौनपरायण) मुनि को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

गाथानुक्रम

[अंक अध्याय और श्लोक के हैं। तारा का चिह्न पाठान्तर के लिए दिया है।]

नव-संहिता में प्राचीन गाथा-क्रम

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
अध्याय १	
१–६	१–६
७–११	१९७–२०१
१२	२११
१३	२०२
१४–१८	२२१–२२५
१९	२७०
२०–२५	१२९–१३४
अध्याय २	
१–६	११०–११५
७–१०	५४–५७
११-१२	२०३-२०४
१३–१५	३३१–३३३
१६	२९०
१७–२०	३५६–३५९
२१	१७७
२२	१७६
२३	३५४
२४-२५	४४-४५
२६–२८	१००–१०२
२९	३६३
३०-३१	१९-२०
३२-३३	५१-५२
अध्याय ३	
१–३	३२८–३३०
४	६१
५–७	२०६–२०८
८–१०	७६–७८
११–१४	१०६–१०९
१५	३९२
१६-१७	१९५-१९६
१८–२०	३०२–३०४
अध्याय ४	
१	५३
२	११६
३-४	१७२-१७३
५-६	१२३-१२४
७	११७
८	११८
९–१२	१५–१८
१३–१६	११९–१२२
१७-१८	१२७-१२८
१९–२१	६६–६८
२२	३१४
२३	६९
२४	७१
२५	१३६
२६	२४०
अध्याय ५	
१–४	३१६–३१९
५-६	११-१२
७–९	१६७–१६९
१०-११	२४४-२४५
१२	१६३
१३	६०
१४	६२
१५	७०
१६–१८	७२–७४
१९	१२५
२०–२३	१३७–१४०
२४–२६	२४६–२४८
२७–२९	३०८–३१०
३०-३१	३०६-३०७
३२	३२५
अध्याय ६	
१–४	२२७–२३०
५	२१७
६-७	२१९-२२०
८-९	१४३-१४४
१०-११	३२०-३२१
१२-१३	१५८-१५९
१४	१६५
१५	५०
१६	१६६
१७–२०	२५२–२५५

अध्याय ७

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१-२	१६१-१६२
३	१६४
४	३५५
५	१६०
६-७	३७९-३८०
८	१४५
९-१०	३२२-३२३
११–१३	१०३–१०५
१४	३३
१५–१७	३५–३७
१८	३४
१९-२०	१३-१४
२१	३२६
२२–२४	३८–४०
२५-२६	४२-४३

अध्याय ८

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–३	४६–४८
४–७	२३५–२३८
८	१४६
९-१०	१७०-१७१
११–१४	१४७–१५०
१५	१३५
१६	४१
१७-१८	१५१-१५२

अध्याय ९

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–३	२१–२३
४-५	३१-३२
६–८	२८–३०
९	२६
१०-११	२४-२५
१२	२७
१३	३२७
१४-१५	८७-८८
१६	२०५
१७	७५
१८	३०५
१९	३२४
२०	३१५
२१	१५७

अध्याय १०

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१-२	१५५-१५६
३	२३९
४–६	२४१–२४३
७–१०	२३१–२३४
११-१२	३६०-३६१
१३-१४	७-८
१५-१६	२९२-२९३
१७	२२६
१८	१२६
१९	८९
२०-२१	२७१-२७२

अध्याय ११

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–३	२०९–२११
४–६	२८०–२८२
७	३७२
८	३८४
९-१०	२४९-२५०
११-१२	३६५-३६६

अध्याय १२

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–५	२१२–२१६
६-७	३४२-३४३
८–१५	३३४–३४१
१६	३४८
१७	२५१
१८–२१	३४४–३४७
२२–२५	३४९–३५२

अध्याय १३

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१-२	१५३-१५४
३	३५३
४-५	१७९-१८०
६	३८७
७-८	१८१-१८२
९	१९३
१०-११	१८६-१८७
१२-१३	५८-५९
१४	२९६
१५–१९	२९७–३०१

अध्याय १४

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–३	१८३–१८५
४–८	१८८–१९२
९	१९४
१०–१३	२७३–२७६
१४	१७८
१५–१७	२७७–२७९
१८–२४	२८३–२८९

अध्याय १५

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–६	७९–८४
७–९	६३–६५
१०-११	२५८-२५९
१२-१३	२५६-२५७
१४–१७	२६०–२६३
१८-१९	८५-८६
२०-२१	१७४-१७५

अध्याय १६

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–३	३७४–३७६
४	३६२
५	३७८
६	३६७
७	३७०
८	३६८
९-१०	३८१-३८२
११	३७७
१२	३६९
१३	३७१
१४	३७३
१५	३६४
१६–१८	३११–३१३
१९	४९
२०-२१	९-१०

अध्याय १७

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१–७	९०–९६
८-९	९८-९९
१०-११	२६४-२६५
१२	३८८
१३–१६	२६६–२६९
१७	२१८
१८	९७

अध्याय १८

नवसंहिता-क्रम	मूल गाथा-क्रम
१-२	२९४-२९५
३–५	३८९–३९१
६-७	३९९-४००
८	४०८
९-१०	४०५-४०६
११–१३	३९३–३९५
१४-१५	१४१-१४२
१६	४०९
१७	३९६
१८	४२१
१९	४११
२०	४१४
२१	४१०
२२	३८५
२३-२४	३९७-३९८
२५	४१२
२६	४१७
२७	४०२
२८	४१३
२९-३०	४१५-४१६
३१	४०४
३२	४०१
३३	४०७
३४	३८३
३५	४०३
३६	३८६
३७-३८	४१८-४१९
३९	४२०
४०-४१	४२२-४२३

●

विनोबाजी का
धर्म - समन्वय - साहित्य

गीता-प्रवचन	(गीता)
कुरान-सार	(कुरान)
ख्रिस्त-धर्म-सार	(बाइबिल)
जपुजी	(गुरुग्रंथ साहिब)
भागवत धर्म-सार	(भागवत)
मनुशासनम्	(मनु-स्मृति)
अष्टादशी	(उपनिषद्)
विनयांजलि	(विनय पत्रिका)
समण-सुत्तं	(जैन)

महागुहा में प्रवेश
विज्ञान युग में धर्म
नाम-माला
स्थितप्रज्ञ-दर्शन
शुचिता से आत्मदर्शन
रामनाम : एक चिन्तन
ईशावास्य-वृत्ति
साम्य-सूत्र
अध्यात्म-तत्व-सुधा
सप्त शक्तियाँ

बालकोबाजी का
अध्यात्म - साहित्य

गीता-तत्व-बोध (दो खण्ड)
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
अभंगव्रत विवेचन
जीवन-साधना

शिवाजी भावे द्वारा रचित

भगवान बुद्ध : साररूप भाव दर्शन

सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी

मूल्य :
तीस रुपये